UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182366

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 S53K Accession No. G. H. 2910

Author शर्मा, जगन्नाथ

Title काव्य तरंगिणी १९६२

This book should be returned on or before the date last marked below

काव्य-तरंगिणी

[भाग २]

•

श्रेष्ठ आधुनिक कविताओं
का संकलन

•

SPECIMEN

1962

संपादक

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा

एम० ए०, डी लिट्

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक :
सरस्वती मंदिर
जतनबर, वाराणसी

●

प्रथमावृत्ति १९६२
मूल्य : दो रुपये पचास नये पैसे

Checked 1989

●

मुद्रक :
विश्वनाथ भार्गव
मनोहर प्रेस,
जतनबर, वाराणसी ।

आमुख

भारतीय इतिहास में सन् १८५७ की क्रांति एक व्यापक परिवर्तन की सूचक है। देश के जीवन में, इसके पश्चात्, बहुत बड़े उलट-फेर हुए। इसी समय के आस-पास हिंदी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रवर्त्तन हुआ। यह युग ऐसा था जब पाश्चात्य और भारतीय मान्यताओं एवं संस्कृतियों की मुठभेड़ हो रही थी। विजेता अंगरेजों और विजित भारतीयों मे गहरे भेदभाव के चिह्न लक्षित होने लगे थे। एक प्रकार का सामूहिक तथा देशव्यापी जागरण पूर्णतया पनप उठा था। ऐसे समय में साहित्यिक क्रांति के नेता की तरह भारतेन्दु (कार्य-काल सन् १८६५–८५) ने चेतना संभालते ही सारी वस्तुस्थिति परख ली और अपने दायित्व का भाव उनमे पूरी तरह जाग उठा। उन्होने देखा कि १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की सारी दौड़-धूप में हाँफती चली आती ब्रजनायिका मूर्च्छित होती जा रही है। प्राचीन काव्य-रीति की चमत्कार-विधायक चमकदमक क्रांतिहीन हो गयी है। काव्य का भाव-क्षेत्र शृंगार-संकुचित और जन-जीवन से असंपृक्त हो गया है। भारतेंदु ने सबसे पहला काम यह किया कि साहित्य का संबंध लोकजीवन से जोड़ दिया। काव्य का भाव-क्षेत्र विस्तृत बनाया। युग-प्रेरित राष्ट्रीय भावना और उदार धार्मिक मनोदृष्टि तथा सुधारवादी एवं समन्वयमूलक सांस्कृतिक चेतना का अनेकरूप प्रतिफलन भारतेंदु युग के काव्य की प्रमुख विशेषता है। ब्रजभाषा ही काव्य की भाषा रही पर पूर्वापेक्षया उसका रूप अधिक स्वाभाविक, परिष्कृत और जनबोध्य हो गया। इस समय खड़ी बोली का भी व्यवहार काव्यक्षेत्र में हुआ, पर प्रयोग रूप में ही। आधिपत्य ब्रजभाषा का ही रहा। इस प्रकार भारतेंदु और उनके समकालीन कवियों का कर्त्तृत्व उनकी कलात्मक उपलब्धियों में उतना नहीं है जितना इस बात में कि उन्होंने काव्य का क्षेत्र विस्तृत बनाया और तत्कालीन युग-

विषय-वस्तु का अनेक रूप-विस्तार गुप्त जी की समस्त काव्य-रचना की एक सामान्य विशेषता है। 'साकेत', 'यशोधरा' और 'द्वापर' इनकी विशेष प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ हैं। साकेत में कवि ने रामायण की उपेक्षिता उर्मिला को सम्मान के पद पर प्रतिष्ठित किया है। इसमें आधुनिक आदोलनों और वैचारिक नवीनता का पूरा संनिवेश मिलता है। गार्हस्थ्य जीवन के मधुर चित्र भी हैं। कैकेयी के कृत्य को मनोवैज्ञानिक औचित्य प्रदान करने का प्रयत्न नये युग की प्रेरणा का परिणाम है। प्रजा के अधिकार का प्रश्न, श्रमजीवियो के प्रति सहानुभूति, सत्याग्रह का प्रसंग और मानवतावाद की गूँज—समकालीन अनेक स्थितियाँ और भाव-दशाएँ इस काव्य में आयी हैं। प्रबंधात्मकता भी है और गीत भी हैं। कला की दृष्टि से साकेत में नवीन और प्राचीन का अच्छा मेल मिलता है। चमत्कारपूर्ण अलंकृति और छायावादी लाक्षणिक वैचित्र्य—दोनों साथ-साथ हैं। 'यशोधरा' बहुत कुछ चंपूकाव्य से मिलता-जुलता रूप लिये आयी जिसमें भगवान बुद्ध के चरित्र से संबद्ध विभिन्न पात्रो के मार्मिक चित्र हैं। यशोधरा का पत्नी, माता और आदर्श नारी के रूप में बड़ा मनोरम और मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। 'द्वापर' मे नाटकीय स्वगत कथन के रूप में कृष्ण से संबद्ध विभिन्न व्यक्तियों—यशोदा, राधा, नारद, कंस आदि के मनोभावों की पृथक्-पृथक् भावमय अभिव्यक्ति हुई है।

गुप्तजी की रचनाओं की संख्या बहुत बड़ी है और उनकी काव्य-वस्तु का विस्तार अनेकमुखी है। रंग मे भंग, जयद्रथ-वध, विकट भट, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी, सिद्धराज, जयभारत आदि उनके प्रबंध-काव्य हैं। वैतालिक, झंकार आदि गीतात्मक रचनाएँ हैं। कई पद्यबद्ध रूपक भी इन्होने लिखे हैं। अब भी उनकी काव्य-सर्जना का क्रम बना हुआ है।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'गुप्तजी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति।'

खड़ी बोली को परिष्कृत और व्यंजक बनाने में गुप्त जी का भाग महत्वशाली रहा है। युग-प्रवृत्ति के विकासमान रूप को उन्होने अपने काव्य में असाधारण प्रतिभा के बल पर मार्मिक ढंग से व्यंजित किया है। अनेक जीवन-स्थितियों की मार्मिक व्यंजना इनकी विशिष्ट रचनाओं में मिलती है। उच्च जीवनादर्श और विचारगत औदात्य इनके व्यक्तित्व के अविच्छेद्य गुण हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में ही काव्य-रचना करने लगे थे। आरंभ से ही इनकी रुझान नये सामाजिक विषयों की ओर रही। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'प्रिय प्रवास' है जो संस्कृत के अनुकात वृत्तों मे है और जिसमे लोकसंग्रह के भाव और युगानुरूप बौद्धिकता का अच्छा समावेश है। इसमे कृष्ण ब्रज के लोक-रक्षक नेता और राधा लोकसेविका के रूप मे चित्रित हैं। स्मृतिरूप मे प्रस्तुत होने से इसके कथाबंध मे एक नाटकीय वैशिष्ट्य आ गया है। विप्रलंभ शृङ्गार और वात्सल्य भाव की 'प्रियप्रवास' मे सुंदर व्यंजना हुई है। पदावली कही संस्कृतगर्भित है और कही सरल मधुर हिंदी की छटा से भरी है। इनका दूसरा प्रबंध-काव्य 'वैदेही वनवास' है।

खड़ी बोली, ठेठ हिंदी, उर्दू-मिश्रित हिंदी, संस्कृतनिष्ठ हिंदी और ब्रजभाषा—इन सब पर हरिऔध का समान अधिकार पाया जाता है। 'रसकलस' उनकी ब्रजभाषा की रचना है जिसमे प्राचीन नायिका-रूपों के अतिरिक्त देश-प्रेमिका और लोकसेविका आदि के नये नायिका-रूप भी सामने लाये गये हैं। इसमें विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति है और ब्रजभाषा का प्रौढ तथा परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया गया है। 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' में ठेठ हिंदी और मुहावरों की बंदिश का चमत्कार द्रष्टव्य है। इस प्रकार ब्रजभाषा और खड़ीबोली हिंदी के विभिन्न रूपों के ऊपर जैसा व्यापक अधिकार हरिऔध का लक्षित होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। लोकभावना-प्रेरित नये भाव, सरल और क्लिष्ट हिंदी-

पदावली का अनूठा विनियोग तथा कोमलकांत पदावली के प्रति विशेष आग्रह इनकी कुछ प्रसिद्ध विशेषताएँ हैं।

आधुनिक काव्य के द्वितीय उत्थान में अनेक कवि मैदान में आये। द्विवेदी जी के प्रभाव में रहकर लिखनेवालों में 'रामचरित-चिंतामणि' के रचयिता रामचरित उपाध्याय, गिरिधर शर्मा नवरत्न और लोचनप्रसाद पांडेय आदि उल्लेखनीय हैं। स्वतंत्ररूप से काव्य-रचना करनेवालों में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा 'शंकर', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, रामनरेश त्रिपाठी और रूपनारायण पांडेय आदि विशिष्ट हैं। इन सबने खड़ी बोली को माँजने और विभिन्न प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करने के लिए समर्थ बनाने में बड़ा काम किया।

इस समय की रचनाओं मे सामाजिक और राष्ट्रीय भावना का प्रसार हुआ, काव्य-भूमि पहले की अपेक्षा विस्तृत हुई, सुधार की प्रवृत्ति अधिक ब्यौरे के साथ व्यक्त हुई, पर भावाभिव्यंजन का सम्यक् रूप नहीं उपस्थित हो सका। भाषा को माँजकर उसमें भाव-संचार की पूरी क्षमता लाने में ही अधिक समय बीता। दूसरे, व्याकरण के कठोर अंकुश और स्थूल नैतिकता के नियंत्रण के कारण काव्य में कल्पना अच्छी तरह खिल न सकी।

सन् '१८ के आसपास कवियों का ध्यान इस न्यूनता की ओर गया। द्विवेदी जी के प्रभावकाल की कविताओं की गद्यात्मक रुक्षता, इतिवृत्तात्मकता, बाह्यनिरूपार्थक प्रवृत्ति और स्थूल नैतिकता के प्रति कठोर आग्रह आदि के विरुद्ध व्यापक प्रतिक्रिया हुई और आधुनिक काव्य के तृतीय युग का आरंभ हुआ।

इस नवीन काव्य-चेतना का आरंभिक स्फुरण मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय की तत्कालीन कविताओं मे दिखायी पड़ता है। पर प्रसाद, पंत और निराला आदि की कृतियों में नये काव्य का वास्तविक वाग्वैभव नया नाम और रूप धारण कर अच्छी तरह स्फुट हुआ।

आधुनिक काव्य के तृतीय उत्थान में विविध प्रकार की प्रवृत्तियो का प्रसार दिखायी पड़ा। प्रथम उत्थान मे हिंदी-काव्य युगचेतना से संपृक्त हुआ था। द्वितीय में प्रवर्द्धित युगचेतना अधिक स्पष्ट और वैविध्यपूर्ण स्वरो मे खड़ी बोली के माध्यम से व्यक्त हुई। इस तृतीय उत्थान मे पूर्ववर्ती भावधारा के साथ नवागत भावनाएँ भी आ मिली और पहले की अपेक्षा अधिक काव्योचित कला-सौष्ठव के साथ व्यंजित हुई।

देशप्रेम की, पहले से चली आती हुई, प्रवृत्ति क्रमशः प्रबल होती गयी और माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन तथा रामधारी सिह दिनकर आदि मे इसका अच्छा अनुरणन हुआ। इनकी रचनाओ मे राष्ट्रीयता की भावना और परिवर्तन की कामना वेगपूर्ण ढंग से व्यंजित हुई।

द्विवेदी-काल मे प्रवर्तित विविध विषयों को ग्रहण कर चलनेवाली धारा मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिह और अनूप शर्मा आदि के द्वारा अग्रसर रही।

पर सबसे जीवंत धारा इस युग की वह है जिसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया जाता है। द्विवेदी-कालीन काव्य की गद्यात्मक रुक्षता और बाह्यार्थनिरूपक प्रवृत्ति के विरोध में एक नये ढंग के काव्य का प्रचलन हुआ जिसमे पहले तो काव्य-शैली के वैलक्षण्य पर ही अधिक बल दिया गया पर आगे चलकर विषय-संबंधी वैविध्य और नवीनता की ओर भी कवियों की दृष्टि गयी। आरंभ मे बँगला के नये काव्य और अँगरेजी के रोमैंटिक काव्य का छायावादियो पर अत्यधिक प्रभाव लक्षित होता है। पर आगे चलकर बाह्य प्रभाव समाप्त हो गया और हिन्दी कवि का समृद्ध और सशक्त स्व-भाव ही युगानुरूप साजसज्जा के साथ अनेक रूप-रंगों में अभिव्यक्त हुआ।

विचार करने पर छायावाद में वस्तु और शैली दोनो की नवीनता लक्षित होती है। योरप में उन्नीसवीं सदी से ही जिस व्यक्तिवाद का विकास

काव्य में हो रहा था उसका आवेगमय रूप हिन्दी के छायावादी काव्य में प्रकट हुआ। फलतः व्यक्ति के महत्त्व का नानारूप प्रदर्शन इस प्रकार के काव्य में मिलता है। सामाजिक परंपराओ से असंतोष और विद्रोह का भाव छायावाद में बड़े तीव्र रूप से व्यक्त हुआ। व्यक्ति की अपनी भावना, मुक्ति-कामना, आशा-आकाक्षा और निराशा तथा वेदना का जैसा आवेगमय और साहसपूर्ण अभिव्यंजन 'छायावाद' में दिखायी पड़ा वैसा पूर्ववर्ती काव्य के लिए अपरिचित था। मानवतावाद के प्रभाव से दीन-हीन और संत्रस्त व्यक्तियो के प्रति ममत्त्व भी व्यंजित हुआ। कवियों के सौंदर्यमूलक भावबोध की गहराई के कारण प्रकृति और मानव-क्षेत्र से चुने गये अनेकस्तरीय सौंदर्य-चित्रों का बड़ा ही मनोरम प्रदर्शन छायावादी काव्य में हुआ। सौंदर्य और माधुर्य की खोज में अनेक बार कवियो को विषम कर्मजगत् की कठोरता से पलायन भी करना पड़ा और कल्पना-लोक मे आश्रय भी लेना पड़ा।

शैली की दृष्टि से भी इस नये काव्य में अनेक विशेषताएँ प्रस्फुट हुईं। व्यक्तिनिष्ठ भावनाओ की वेगवती व्यंजना करनेवाले प्रगीत छायावाद की अपनी अभिनव सृष्टि हैं। विराट् और कोमल-मधुर व्यंजक चित्र-विन्यास में छायावादियों की कल्पना खूब सजग दिखायी देती है। प्रतीक-व्यंजना, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, भाषा की वक्रता और कोमल पदावली इस काव्य की अन्य शैलीगत विशेषताएँ हैं। मुक्तछंद की सृष्टि भी इसी समय हुई।

- प्रसाद, पंत और निराला छायावाद के प्रवर्त्तक और उन्नायक हैं। बाद को महादेवी ने भी इस क्षेत्र में प्रवेश कर ऊँचा स्थान प्राप्त किया।

जयशंकर प्रसाद का मुख्य काव्य-विषय मानवीय प्रेम है जिसके अनेक स्तरो का उद्घाटन इनकी रचनाओ में अत्यंत मार्मिक पद्धति पर हुआ है। संयोग और वियोगकालीन भावनाओ तथा प्रेम के उदात्त और उन्नयनकारी रूप का 'आँसू' मे अच्छा उद्घाटन मिलता है। 'लहर' की रचनाओं में आवेगमय प्रेम की प्रतीति करानेवाली यौवनोचित

अल्हड़ता का लयकारी रूप भी मिलता है और अतीत के क्षेत्र में प्रवेश करनेवाली कल्पना का भावोद्रेकक्षम विधान भी। नाटकों में ग्रथित इनके प्रगीतों में संगीत तत्त्व, कल्पना की भावोद्रेकक्षमता और आभ्यंतर भावों की सघनता का अनूठा विनियोग दिखायी पड़ता है। इनका सबसे प्रसिद्ध काव्य 'कामायनी' है जिसमे कवि की विशद कल्पना और भावगत औदात्य का सुंदर रूप प्रकट हुआ है। 'कामायनी' में आदि मानव मनु के द्वारा सृष्टि की पुनर्रचना का आख्यान निबद्ध है। ऐतिहासिकता और रूपक तत्त्व का इसमें बड़े कौशल से निर्वाह हुआ है। मानवी सभ्यता के विविध सोपानों और विभिन्न मानसिक स्थितियों की प्रगीतात्मक व्यंजना इस काव्य में बड़े मार्मिक ढंग से हुई है। कथा का बाह्य-प्रसार कम है; पर अन्तः-प्रसार तलस्पर्शी है। रंजनकारी मूर्तिविधायक कल्पना और जटिल भावों की संवेद्य व्यंजना के अतिरिक्त जीवन के प्रति जिस सामंजस्यमूलक जीवन-दृष्टि को अग्रसर किया गया है उसका भी विशेष महत्त्व समझना चाहिए।

सुमित्रानंदन पन्त सौदर्य-कल्पना के सुकुमार कवि के रूप में काव्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। प्रकृति के मधुर रूपो के साथ जैसा आत्मीय संबंध इनका रहा है वैसा अन्य किसी हिन्दी कवि का नही। इनकी रचनाओं में प्रकृति की अत्यंत रमणीय चित्रशाला सुसज्जित है। प्रकृति को इन्होने एक चेतन-सत्ता के रूप में भी देखा है जो कवि के लिए सहानुभूतिशील मित्र और प्रेरणादायक शक्ति के समान है। 'प्रकृति के विभिन्न स्थिर और गतिमय रूपो की इन्होने ऐसी योजना की है जो प्रायः अनेक इन्द्रियानुभूतियो को एक साथ उद्दीप्त कर देती है।' प्रेममूलक अनेकानेक वृत्तियों का स्फुरण इनकी रचनाओं की अन्य विशेषता है। सामंजस्य और विश्वबंधुत्व की जो भावना प्रसाद मे मिलती है उसका प्रसार पंत की रचनाओ में अपने ढंग से हुआ है। 'गुंजन' में इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रायः दिखायी देती है। पंत उच्चकोटि के कलाकार हैं, अतः इनके शैली-शिल्प में वैसी ही परिष्कृति और प्रत्यग्रता भी है। स्निग्ध और चित्रमयी

भाषा तथा लाक्षणिक वैचित्र्य का चमत्कार इनमें विशेष है। वर्तमान शती के चौथे दशक में मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचलन के समय पंतजी उससे भी प्रभावित हुए और अपने द्वारा संपादित 'रूपाभ' में उन्होंने घोषणा की कि 'इस युग की कल्पना स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।' फलतः ये भौतिकता और सामाजिक वैषम्य की कठोरता आदि का पता देने वाली रचनाओं की ओर प्रवृत्त हुए जिनका प्रथम संकलन 'युगवाणी' मे हुआ। पर द्वन्द्व और संघर्ष की कठोरता मे इनका मन देर तक टिका न रह सका। इसी समय अरविन्द-दर्शन से प्रभावित हो मन के ऊर्ध्वगमन और आध्यात्मिक-सास्कृतिक उन्नयन की ओर इनकी चिन्तनधारा प्रवाहित हुई। अब भी वह प्रभाव बना है पर इधर दर्शन और चिन्तन के अतिरेक को छोड़ अब पुनः सहृदय कवि की प्रकृत भूमि पर आ गए हैं। 'अतिमा' 'वाणी' आदि इधर के संग्रहो में कवि की उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा का मनोरम रूप प्रकट हुआ है। इनमें पंत की भावुक कल्पना के साथ चिन्तन की गरिमा का अच्छा योग दिखायी देता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' छायावादियो के बीच सबसे बड़े विद्रोही कवि रहे हैं। विद्रोह सामाजिक बंधनो और ढोगो से भी तथा साहित्यिक रूढ़ियो से भी। उनका पौरुषशील विद्रोह कही सामाजिक व्यंग-विद्रूप के रूप मे प्रकट हुआ है, कही ललकार के रूप में और कही नये ढंग की पद योजना और छंद-विधान की उद्भावना में। आरंभ से ही अपने सहयोगियों की अपेक्षा इनका भाव-क्षेत्र विस्तृत रहा है। सामाजिक वैषम्य, जर्जर रूढ़ियों, पराधीनता आदि के विरुद्ध क्रान्ति का संदेश इनकी आरंभिक रचनाओं में भी मिलता है। जितना ऊँचा स्वर पौरुष का है उतना ही तीखा स्वर निराशा और विषाद का भी है जो निराला जैसे परिपूर्ण स्वच्छंदतावादी कवि के लिए स्वाभाविक ही था। उनकी कुछ रचनाओं में भावुक भक्त की दीनता और सरलता है तो कुछ में

अद्वैत दर्शन की बौद्धिकता भी। आध्यात्मिक प्रेम की बात छोड़ दें तो मानवीय प्रेम-प्रसंगों में निर्भीक शृङ्गार-भावना इनमें अधिक दिखायी देती है। इनका 'अंतर्मुख प्रबंधकाव्य' 'तुलसीदास' एक भिन्न कोटि की रचना है जिसमें कथातत्त्व अत्यल्प है और सास्कृतिक परिवेश तथा मानसिक आदोलन का वर्णन विशेष। निराला ने विषय और शैली के क्षेत्र में अनेकानेक प्रयोग किये। हिन्दी मे मुक्त छद के पुरस्कर्ता ये ही हैं। संगीत तत्त्व के अनेकरूप काव्यगत प्रयाग इन्होने किये। गुंफित पदयोजना तथा क्रियापदलोप की प्रवृत्ति के कारण इनकी रचनाओ मे कही-कही बड़ी दुरूहता आ गयी है।

महादेवी जी प्रधानतः प्रेममूलक वेदना और करुणा की कवयित्री हैं। प्रेम के वियोग पक्ष में नारीसुलभ प्रगल्भता और वाक्चातुर्य का मनोहारी प्रयोग इनमें मिलता है। वेदना और दुःख इन्हें पराजित नही करते बल्कि एक विशेष प्रकार के तेज से अभिमंडित कर देते हैं। इनका प्रेम अपार्थिव सत्ता या परमप्रियतम के प्रति है। अतः प्रेमनिष्ठ अद्वैतवादी रहस्यवाद की झलक इनमे मिलती है पर अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखकर परम प्रियतम से प्रेम-क्रीड़ा की आकाक्षा कवयित्री ने अधिक व्यक्त की है। यद्यपि कुछ रचनाओ में सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाएँ भी झलक उठती हैं पर इनकी अधिकाश कविताएँ अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेममयी संवेदनाओ से ही संबद्ध हैं। इस प्रकार इनका काव्य-विषय सीमित है पर इस सीमित क्षेत्र मे जो अर्थच्छाया और कलात्मक वैशिष्ट्य इन्होने प्रदर्शित किया है वह अप्रतिम है। इनके गीतो में अत्यंत उच्चकोटि का संगीत और लयात्मक वैशिष्ट्य पाया जाता है। भाषा बड़ी चित्रोत्थापक, प्राजल, पदावली स्निग्ध, मधुर तथा व्यंजक है।

भावो की तीव्रता और कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से छायावाद आधुनिक काव्य का सर्वोत्तम काल रहा है। पर धीरे-धीरे इसकी सीमा-रेखाएँ संकुचित होती गयी। अवसाद, निराशा और काल्पनिकता की

मात्रा बढ़ती गयी। इसी समय विचार-क्षेत्र में मार्क्सवादी भावनाओं का प्रभाव बढ़ा और वर्तमान शताब्दी के चौथे दशक के प्रायः अंत में एक नयी काव्य-प्रवृत्ति का उदय हुआ जिसे 'प्रगतिवाद' के नाम से अभिहित किया गया। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित इस नयी काव्यधारा में यथार्थवादी प्रवृत्ति पर विशेष बल था। सामाजिक वैषम्य, वर्ग-संघर्ष, सर्वहारावर्ग के संगठन और क्रान्ति की भावना आदि का अनेकरूप चित्रण इस प्रकार के काव्य मे हुआ। वस्तुतः प्रगतिवाद में उपयोगितावाद की दृष्टि से साहित्यिक सृष्टि भी होने लगी और साहित्य को सामाजिक क्रान्ति के एक अस्त्र के रूप में स्वीकार किया गया। फलतः इस प्रकार के काव्य में काव्यगत औदात्य और कलात्मक उत्कर्ष की संभावना कम थी। इसीलिए प्रगतिवाद स्थायी महत्त्व की साहित्यिक कृतियाँ नहीं प्रदान कर सका। प्रगतिवाद का विशेष महत्त्व इस बात में है कि उसने साहित्य के समाज-सापेक्ष मूल्यों पर बल देकर यथार्थमूलक काव्य-चेतना को जगाने का प्रयास किया। आरंभ मे सुमित्रानंदन पंत इस ओर मुड़े और 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' नामक इनके दो संग्रहों में इस नये यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य दिखायी पड़ा। इनके अतिरिक्त केदारनाथ अग्रवाल, रांगेय राघव, शिवमंगल सिंह सुमन आदि अन्य कवि इस धारा में उल्लेख्य हैं।

प्रायः प्रगतिवाद के आरंभ के समय ही फ्रायड की अन्तश्चेतना-संबंधी मान्यताओ और प्रथम महायुद्ध की उत्तरकालीन यूरोपीय विचार धाराओं से प्रभावित हिंदी कवियो का एक दल और उठ खड़ा हुआ जो आगे चलकर प्रयोगवादी कहलाया। सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यातन 'अज्ञेय' इनमें सर्वप्रमुख हैं। इस धारा के अन्य कवि शमशेर, धर्मवीर भारती आदि हैं। इन कवियों ने काव्य में शैली-शिल्प संबंधी अनेक प्रकार के नये-नये प्रयोग किये।

नयी सामाजिक स्थितियों और वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप उगती हुई नयी संवेदनाओं के उद्घाटन का प्रयास, खंड-जीवन के महत्त्व का

प्रतिपादन, नये जीवन-सत्य के अन्वेषण का प्रयत्न, व्यक्ति-जीवन की लाचारी और कुंठा आदि की अभिव्यक्ति के साथ व्यक्ति के महत्त्व का अनेक-रूप प्रदर्शन तथा भाषा, लय और छंद संबंधी चमत्कारपूर्ण नये प्रयोग इस नयी धारा की कुछ संलक्ष्य विशेषताएँ हैं।

इन प्रमुख धाराओं के अतिरिक्त आधुनिक काव्य में और भी प्रवृत्तियाँ अग्रसर हैं। हरिवंशराय बच्चन, जो पहले मधुमत्त कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए थे, इधर लोक-संपृक्त भावनाओं को बड़ी साफ सुथरी और सरल पर अत्यंत व्यंजक खड़ी बोली के माध्यम से गीतात्मक साँचों में असाधारण क्षमता से ढाल रहे हैं। विभिन्न विषयों पर गीतात्मक रचना करने वाले कवियों का एक अलग समूह ही है जो अच्छा कार्य कर रहा है।

इस प्रकार हिंदी का वर्तमान काव्य नवोन्मेषपूर्ण रचना-शक्ति से संपन्न और पूर्णतः गतिमान है।

—जगन्नाथप्रसाद शर्मा

विषय-सूची

लेखक		पृष्ठ
१. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	...	१–१५
प्रिय प्रवास		
चौपदे		
२. मैथिलीशरण गुप्त ...	...	१६–३७
कैकेयी का अनुताप		
ऊर्मिला–लक्ष्मण–मिलन		
यशोधरा–विरह		
कंस		
३. जयशंकर 'प्रसाद ...	...	३८–५९
श्रद्धा		
वे कुछ दिन कितने सुंदर थे		
ले चल वहाँ भुलावा देकर		
हे सागर संगम अरुण नील !		
अशोक की चिन्ता		
आँसू		
४. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	...	६०-७१
भर देते हो		
मौन रही हार		
भावना रँग दी तुमने प्राण		
धारा		
कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना ?		

स्नेह निर्झर बह गया है
सन्ध्या सुन्दरी
बादल राग

५. सुमित्रानन्दन पन्त ७२–९५

प्रार्थना
पर्वत प्रदेश में पावस
शिशु
आँसू से
नौका विहार
चाँदनी
तितली
सुमन के प्रति
रूप सत्य
सोनजुही

६. महादेवी वर्मा ९६–१०४

गीतावली

७. सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ... १०५–११६

पहला दौंगरा
उषःकाल की भव्य शान्ति
यह दीप अकेला
कतकी पूनो
नदी के द्वीप
चेहरे असंख्य : आँखें असंख्य
मैंने देखा, एक बूँद

८. टिप्पणी १–

प्रियप्रवास से

मैं हूँ ऊधो पुलकित हुई आपको आज पा के।
सन्देशों को श्रवण करके और भी मोदिता हूँ।
मंदीभूता, उर-तिमिर की ध्वंसिनी ज्ञान आभा।
उद्दीप्ता हो उचित-गति से उज्ज्वला हो रही है ॥१॥

मेरे प्यारे, पुरुष, पृथिवी-रत्न औ शान्त धी है।
सन्देशों में तदपि उनकी, वेदना, व्यंजिता है।
मैं नारी हूँ, तरल-उर हूँ, प्यार से वंचिता हूँ।
जो होती हूँ विकल, विमना, व्यस्त, वैचित्र्य क्या है ॥२॥

हो जाती है रजनि मलिना ज्यों कला-नाथ डूबे।
वाटी शोभा रहित बनती ज्यों वसन्तान्त में है।
त्योंही प्यारे विधु-वदन की कान्ति से वंचिता हो।
श्री-हीना औ मलिन व्रज की मेदिनी हो गई है ॥३॥

जैसे प्रायः लहर उठती वारि में वायु से है।
त्योंहीं होता चित चलित है कश्चिदावेग-द्वारा।
उद्वेगों से व्यथित बनना बात स्वाभाविकी है।
हाँ, ज्ञानी औ विबुध-जन में मुह्यता है न होती ॥४॥

पूरा-पूरा परम-प्रिय का मर्म्म मैं बूझती हूँ।
है जो वांछा विशद उर में जानती भी उसे हूँ।
यत्नों द्वारा प्रति-दिन अतः मैं महा संयता हूँ।
तो भी देती विरह-जनिता-वासनायें व्यथा हैं ॥५॥

जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
तो उत्कण्ठा-विवश चित में आज भी सोचती हूँ।
होते मेरे अबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं स-मुद उड़ती श्याम के पास जाती ॥६॥

जो उत्कण्ठा अधिक प्रबला है किसी काल होती।
तो ऐसी है लहर उठती चित्त में कल्पना की।
जो हो जाती पवन, गति पा वांछिता लोक-प्यारी।
मैं छू आती परम-प्रिय के मंजु-पादाम्बुजों को ॥७॥

निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यशः संयता हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते।
वैसी वांछा जगत-हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ॥८॥

हो जाता है उदित उर में मोह जो रूप-द्वारा।
व्यापी भू में अधिक जिसकी मंजु-कार्य्यावली है।
जो प्रायः है प्रसव करता मुग्धता मानसों में।
जो है क्रीड़ा अवनि चित को भ्रान्ति उद्विग्नता का ॥९॥

जाता है पंच-शर जिसकी 'कल्पिता-मूर्त्ति' माना।
जो पुष्पों के विशिख-बल से विश्व को बेधता है।
भाव-ग्राही मधुर-महती चित्त-विक्षेप-शीला।
न्यारी-लीला सकल जिसकी मानसोन्मादिनी है ॥१०॥

वैचित्र्यों से वलित उसमें ईदृशी शक्तियाँ हैं।
ज्ञाताओं ने प्रणय उनको है बताया न तो भी॥
है दोनों से सबल बनती भूरि-आसंग-लिप्सा।
होती है किन्तु प्रणयज ही स्थायिनी औ प्रधाना ॥११॥

जैसे पानी प्रणय तृषितों की तृषा है न होती।
हो पाती है न क्षुधित-क्षुधा अन्न-आसक्ति जैसे॥
वैसे ही रूप निलय नरों मोहनी-मूर्तियों में।
हो पाता है न 'प्रणय' हुआ मोह रूपादि-द्वारा॥१२॥

मूली-भूता इस प्रणय की बुद्धि की वृत्तियाँ हैं।
हो जाती हैं समधिकृत जो व्यक्ति के सद्गुणों से॥
वे होते हैं नित नव, तथा दिव्यता-धाम, स्थायी।
पाई जाती प्रणय-पथ में स्थायिता है इसीसे॥१३॥

हो पाता है विकृत स्थिरता-हीन है रूप होता।
पाई जाती नहिं इसलिये मोह में स्थायिता है।
होता है रूप विकसित भी प्रायशः एक ही सा।
हो जाता है प्रशमित अतः मोह संभोग से भी॥१४॥

नाना स्वार्थों सरस-सुख की वासना-मध्य डूबा।
आवेगों से वलित ममतावान है मोह होता।
निष्कामी है प्रणय-शुचिता-मूर्त्ति है सात्त्विकी है।
होती पूरी प्रमिति उसमें आत्म-उत्सर्ग की है॥ १५॥

सद्यः होती फलित, चित में मोह की मत्तता है।
धीरे-धीरे प्रणय बसता, व्यापता है उरों में।
हो जाती हैं विवश अपरा-वृत्तियाँ मोह-द्वारा।
भावोन्मेषी प्रणय करता चित्त सद्वृत्ति को है॥१६॥

हो जाते हैं उदय कितने भाव ऐसे उरों में।
होती है मोह-वश जिनमें प्रेम की भ्रान्ति प्रायः।
वे होते हैं न प्रणय न वे हैं समीचीन होते।
पाई जाती अधिक उनमें मोह की वासना है॥१७॥

हो के उत्कण्ठ प्रिय-सुत की भूयसी-लालसा से।
जो है प्राणी हृदय-तल को वृत्ति उत्सर्ग-शीला।
पुण्याकांक्षा सुयश-रुचि वा धर्म-लिप्सा बिना ही।
ज्ञाताओं ने प्रणय अभिधा दान की है उसी को ॥१८॥

आदो होता गुण ग्रहण है उक्त सद्वृत्ति-द्वारा।
हो जाती है उदित उर में फेर आसंग-लिप्सा।
होती उत्पन्न सहृदयता बाद संसर्ग के है।
पीछे खो आत्म-सुधि लसती आत्म-उत्सर्गता है ॥१९॥

सद्गंधों से, मधुर-स्वर से, स्पर्श से औ रसों से।
जो हैं प्राणी हृदय-तल में मोह उद्भूत होते।
वे ग्राही हैं जन-हृदय के रूप में मोह ही से।
हो पाते है तदपि उतने मत्तकारी नहीं वे ॥२०॥

व्यापी भी है अधिक उनसे रूप का मोह होता।
पाया जाता प्रबल उसका चित्त-चांचल्य भी है।
मानी जाती न क्षिति-तल में है पतंगोपमाना।
भृंगों, मीनों, द्विरद मृग की मत्तता प्रीतिमत्ता ॥२१॥

मोहों में है प्रबल सबसे रूप का मोह होता।
कैसे होंगे अपर, वह जो प्रेम है हो न पाता।
जो है प्यारा प्रणय-मणि सा कांच सा मोह तो है।
ऊँची न्यारी रुचिर महिमा मोह से प्रेम की है ॥२२॥

दोनों आँखें निरख जिसको तृप्त होती नहीं हैं।
ज्यों-ज्यों देखें अधिक जिसकी दीखती मंजुता है।
जो है लीला-निलय महि में वस्तु स्वर्गीय जो है।
ऐसा राका-उदित-विधु सा रूप उल्लासकारी ॥२३॥

उत्कंठा से बहु सुन जिसे मत्त सा बार लाखों।
कानों की है न तिल भर भी दूर होती पिपासा।
हृत्तन्त्री में ध्वनित करता स्वर्ग-संगीत जो है।
ऐसा न्यारा-स्वर उर-जयी विश्व-व्यामोहकारी ॥२४॥

होता है मूल अग जग के सर्वरूपों-स्वरों का।
या होती है मिलित उसमें मुग्धता सद्गुणों की।
ए बातें ही विहित-विधि के साथ हैं व्यक्त होतीं।
न्यारे गंधों सरस-रस, औ स्पर्श-वैचित्र्य में भी ॥२५॥

पूरी-पूरी कुँवर-वर के रूप में है महत्ता।
मंत्रों से हो मुखर, मुरली दिव्यता से भरी है।
सारे न्यारे प्रमुख-गुण की सात्विकी मूर्त्ति वे हैं।
कैसे व्यापी प्रणय उनका अन्तरों में न होगा ॥२६॥

जो आसक्ता व्रज-अवनि में बालिकायें कई हैं।
वे सारी ही प्रणय-रँग से श्याम के रंजिता हैं।
मैं मानूँगी अधिक उनमें हैं महा-मोह-मग्ना।
तो भी प्रायः प्रणय-पथ की पंथिनी ही सभी हैं ॥२७॥

मेरी भी है कुछ गति यही श्याम को भूल दूँ क्यों।
काढ़ूँ कैसे हृदय-तल से श्यामली-मूर्ति न्यारी।
जीते जी जो न मन सकता भूल है मंजु-तानें।
तो क्यों होंगा शमित प्रिय के लाभ की लालसायें ॥२८॥

ए आखें हैं जिधर फिरती चाहती श्याम को हैं।
कानों को भी मधुर-रव की आज भी लौ लगी है।
कोई मेरे हृदय-तल को पैठ के जो विलोके।
तो पावेगा लसित उसमें कान्ति-प्यारी उन्हीं की ॥२९॥

जो होता है उदित नभ में कौमुदी कांत आ के।
या जो कोई कुसुम विकसा देख पाती कहीं हूँ।
शोभा वाले हरित दल के पादपों को विलोके।
है प्यारे का विकच-मुखड़ा आज भी याद आता ॥३०॥

कालिन्दी के पुलिन पर जा, या सजीले-सरों में।
जो मैं फूले-कमल-कुल को मुग्ध हो देखती हूँ।
तो प्यारे के कलित-कर की औ अनूठे पगों की।
छा जाती है सरस-सुषमा वारि-स्रावी दृगों में ॥३१॥

ताराओं से खचित-नभ को देखती जो कभी हूँ।
या मेघों में मुदित-बक की पंक्तियाँ दीखती हैं।
तो जाती हूँ उमग बँधता ध्यान ऐसा मुझे है।
मानों मुक्ता-लसित-उर है श्याम का दृष्टि आता ॥३२॥

छू देती है मृदु-पवन जो पास आ गात मेरा।
तो हो जाती परस सुधि है श्याम-प्यारे-करों की।
ले पुष्पों की सुरभि वह जो कुंज में डोलती है।
तो गंधों से बलित मुख की वास है याद आती ॥३३॥

ऊँचे-ऊँचे शिखर चित की उच्चता हैं दिखाते।
ला देता है परम दृढ़ता मेरु आगे दृगों के।
नाना-क्रीड़ा-निलय-झरना चारु-छींटें उड़ाता।
उल्लासों को कुँवर-वर के चक्षु में है लसाता ॥३४॥

कालिन्दी एक प्रियतम के गात की श्यामता ही।
मेरे प्यासे दृग-युगल के सामने है न लाती।
प्यारी लीला सकल अपने कूल की मंजुता से।
सद्भावों के सहित चित में सर्वदा है लसाती ॥३५॥

फूली संध्या परम-प्रिय की कान्ति सी है दिखाती।
मैं पाती हूँ रजनि-तन में श्याम का रंग छाया।
ऊषा आती प्रति-दिवस है प्रीति से रंजिता हो।
पाया जाता वर-वदन सा ओप आदित्य में है ॥३६॥

मैं पाती हूँ अलक-सुषमा भृंग की मालिका में।
है आँखों की सु-छवि मिलती खंजनों औ मृगों में।
दोनों बाँहें कलभ कर को देख हैं याद आतीं।
पाई शोभा रुचिर शुक के ठोर में नासिका की ॥३७॥

है दाँतों की झलक मुझको दीखती दाड़िमों में।
बिम्बाओं में वर अधर सी राजती लालिमा है।
मैं केलों में जघन-युग की मंजुता देखती हूँ।
गुल्फों की सी ललित सुषमा है गुलों में दिखाती ॥३८॥

नेत्रोन्मादी बहु-मुदमयी-नीलिमा गात की सी।
न्यारे नीले गगन-तल के अंक में राजती है।
भू में शोभा, सुरस जल में, वह्नि में दिव्य-आभा।
मेरे प्यारे-कुँवर वर सी प्रायशः है दिखाती ॥३९॥

सायं-प्रातः सरस-स्वर से कूजते हैं पखेरू।
प्यारी-प्यारी मधुर-ध्वनियाँ मत्त हो, हैं सुनाते।
मैं पाती हूँ मधुर ध्वनि में कूजने में खगों के।
मीठी-तानें परम-प्रिय की मोहिनी-वंशिका की ॥४०॥

मेरी बातें श्रवण कर के आप उद्विग्न होंगे।
जानेंगे मैं विवश बन के हूँ महा-मोह-मग्ना।
सच्ची यों है न निज-सुख के हेतु मैं मोहिता हूँ।
संरक्षा में प्रणय-पथ के भावतः हूँ सयत्ना ॥४१॥

हो जाती है विधि-सृजन से इक्षु में माधुरी जो।
आ जाता है सरस रँग जो पुष्प की पंखड़ी में।
क्यों होगा सो रहित रहते इक्षुता-पुष्पता के।
ऐसे ही क्यों प्रसृत उर से जीवनाधार होगा ॥४२॥

क्यों मोहेंगे न दृग लख के मूर्तियाँ रूपवाली।
कानों को भी मधुर-स्वर से मुग्धता क्यों न होगी॥
क्यों डूबेंगे न उर रँग में प्रीति-आरंजितों के।
धाता-द्वारा सृजित तन में तो इसी हेतु वे हैं ॥४३॥

छाया-ग्राही मुकुर यदि हो, वारि हो चित्र क्या है।
जो वे छाया ग्रहण न करें चित्रता तो यही है॥
वैसे ही नेत्र, श्रुति, उर में जो न रूपादि व्यापें।
तो विज्ञानी, विबुध उनको स्वस्थ कैसे कहेंगे ॥४४॥

पाई जाती श्रवण करने आदि में भिन्नता है।
देखा जाना प्रभृति भव में भूरि-भेदों भरा है॥
कोई होता कलुष-युत है कामना-लिप्त हो के।
त्योंही कोई परम-शुचितावान औ संयमी है ॥४५॥

पक्षी होता सु-पुलकित है देख सत्पुष्प फूला।
भौंरा शोभा निरख रस ले मत्त हो गूँजता है॥
अर्थी-माली मुदित बन भी है उसे तोड़ लेता।
तीनों का ही कल-कुसुम का देखना यों त्रिधा है ॥४६॥

लोकोल्लासी छवि लख किसी रूप उद्भासिता की।
कोई होता मदन-वश है मोद में मग्न कोई॥
कोई गाता परम-प्रभु की कीर्ति है मुग्ध सा हो।
यों तीनों की प्रचुर-प्रखरा दृष्टि है भिन्न होती ॥४७॥

शोभा-वाले विपट विलसे पक्षियों के स्वरों से।
विज्ञानी है परम-प्रभु के प्रेम का पाठ पाता॥
व्याधा की हैं हनन-रुचियाँ और भी तीव्र होतीं।
यों दोनों के श्रवण करने में बड़ी भिन्नता है॥४८॥

यों ही है भेदयुत चखना, सूँघना और छूना।
पात्रों में है प्रकट इनकी भिन्नता नित्य होती॥
ऐसी ही हैं हृदय-तल के भाव में भिन्नतायें।
भावों ही से अवनि-तल है स्वर्ग के तुल्य होता॥४९॥

प्यारे आवें सु-वयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंढे होवें नयन, दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ॥
ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें॥५०॥

जो होता है हृदय-तल का भाव लोकोपतापी।
छिद्रान्वेषी, मलिन, वह है तापसी-वृत्ति-वाला॥
नाना भोगाकलित, विविधा-वासना-मध्य डूबा।
जो है स्वार्थाभिमुख वह है राजसी-वृत्तिशाली॥५१॥

निष्कामी है भव-सुखद है और है विश्व-प्रेमी।
जो है भोगोपरत वह है सात्विकी-वृत्ति-शोभी॥
ऐसी ही है श्रवण करने आदि की भा व्यवस्था।
आत्मोत्सर्गी, हृदय-तल की सात्विकी-वृत्ति ही है॥५२॥

जिह्वा, नासा, श्रवण अथवा नेत्र होते शरीरी।
क्यों त्यागेंगे प्रकृति अपने कार्य्य को क्यों तजेंगे॥
क्यों होवेंगी शमित उर की लालसायें, अतः मैं।
रंगे देती प्रति-दिन उन्हें सात्विकी-वृत्ति में हूँ॥५३॥

कंजों का या उदित-बिधु का देख सौन्दर्य्य आँखों।
या कानों से श्रवण करके गान मीठा खगों का॥
मैं होती थी व्यथित, अब हूँ शान्ति सानन्द पाती।
प्यारे के पाँव, मुख, मुरली-नाद जैसा उन्हें पा॥५५॥

यों ही जो है अवनि नभ में दिव्य, प्यारा, उन्हें मैं।
जो छूती हूँ श्रवण करती देखती सूँघती हूँ॥
तो होती हूँ मुदित उनमें भावतः श्याम की पा।
न्यारी-शोभा, सुगुण-गरिमा अंग संभूत साम्य॥५५॥

हो जाने से हृदय-तल का भाव ऐसा निराला।
मैंने न्यारे परम गरिमावान दो लाभ पाये॥
मेरे जी में हृदय विजयी विश्व का प्रेम जागा।
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय-प्राणेश ही में॥५६॥

पाई जाती विविध जितनी वस्तुयें हैं सबों में।
जो प्यारे को अमित रँग औ रूप में देखती हूँ।
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा॥५७॥

जो आता है न जन-मन में जो परे बुद्धि के है।
जो भावों का विषय न बना नित्य अव्यक्त जो है॥
है ज्ञाता की न गति जिसमें इन्द्रियातीत जो है।
सो क्या है, मैं अबुध अबला जान पाऊँ उसे क्यों॥५८॥

शास्त्रों में है कथित प्रभु के शीश औ लोचनों की।
संख्यायें हैं अमित पग औ हस्त भी हैं अनेकों॥
सो हो के भी रहित मुख से नेत्र नासादिकों से।
छूता, खाता, श्रवण करता, देखता, सूँघता है॥५९॥

ज्ञाताओं ने विशद इसका मर्म्म यों है बताया।
सारे प्राणी अखिल जग के मूर्तियाँ हैं उसी की॥
होतीं आँखें प्रभृति उनकी भूरि-संख्यावती हैं।
सो विश्वात्मा अमित-नयनों आदि-वाला अतः है॥६०॥

निष्प्राणों की विफल बनतीं सर्व-गात्रेन्द्रियाँ हैं।
है अन्या-शक्ति कृति करती वस्तुतः इन्द्रियों की॥
सो है नासा न दृग रसना आदि ईशांश ही है।
हो के नासादि रहित अतः सूँघता आदि सो है॥६१॥

ताराओं में तिमिर-हर में वह्नि-विद्युल्लता में।
नाना रत्नों, विविध मणियां में विभा है उसी की॥
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगों में।
मैं पाती हूँ प्रथित-प्रभुता विश्व में व्याप्त की ही॥६२॥

प्यारी-सत्ता जगत-गत की नित्य लीला-मयी है।
स्नेहोपेता परम-मधुरा पूतता में पगी है॥
ऊँची-न्यारी-सरल-सरसा ज्ञान-गर्भा मनोज्ञा।
पूज्या मान्या हृदय-तल की रंजिनी उज्वला है॥६३॥

मैंने की हैं कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात बातें।
वे बातें हैं प्रकट करती ब्रह्म है विश्व-रूपी॥
व्यापी है विश्व प्रियतम में विश्व में प्राणप्यारा।
यों ही मैंने जगत-पति को श्याम में है विलोका॥६४॥

शास्त्रों में है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सो दिव्या है मनुज-तन की सर्व संसिद्धियों से॥
मैं होती हूँ सुखित यह जो तत्वतः देखती हूँ।
प्यारे की औ परम-प्रभु की भक्तियाँ हैं अभिन्ना॥६५॥

चौपदे

(१)

जो किसी के भी नहीं बाँधे बँधे
प्रेम-बंधन से गये वे भी कसे।
तीन लोकों में नहीं जो बस सके
प्यार वाली आँख में वे ही बसे॥

(२)

जान जब तक सका नहीं तब तक
था बना जीव बैल तेली का।
जब सका जान तब जगत सारा
हो गया आँवला हथेली का॥

(३)

कौन है जानकार तुम जैसा
है हमारा अजान का बाना।
तुम हमें जानते जनाते हो
नाथ हमने तुम्हें नहीं जाना॥

(४)

पाठ जिसने कर दिखाने का पढ़ा
संकटों में जो सका जीवट दिखा।
काम करके ही जगत से जो टला
वह सका है टाल माथे का लिखा॥

(५)

धाक जिनकी मानती दुनिया रही
साधकर जो काम सब फूले फले।
वे भला कब छोड़ अपने पंथ को
मान माथे की लकीरों को चले॥

(६)

रंग में जो प्रेम के डूबे नहीं
जो न पर-हित की तरंगों में बहे।
किसलिए हरिनाम तो सह साँसतें
कंठ भर जल में खड़े जपते रहे॥

(७)

है कहीं बाल औ कहीं आँसू
और मुँह में कहीं हँसी का थल।
है कहीं मेघ औ कहीं बिजली
औ कहीं पर बरस रहा है जल॥

(८)

हैं उसी के भाव के फूले कमल
जो सदा सिर पर सुजन सुर के चढ़े।
हैं उपज लहरें उसी में सोहतीं
सोत रस के मनसरोवर से कढ़े॥

(९)

आम बौरे बही बयार बसी
सज लतायें हरी भरी डोलीं।
बोलबाला बसंत का होते
खिल उठी बेलि, कोयलें बोलीं॥

(१०)

आज काँटे बखेर कर जी में
फूल भी हो गया कटीला है।
चिटकती देखकर गुलाब-कली
चोट खा चित हुआ चुटीला है॥

(११)

बे-कलेजे के बनें तब क्यों न हम
बाल बिखरे देखकर जो जी टँगे।
या किसी की लट लटकती देखकर
लोटने जो साँप छाती पर लगे॥

(१२)

भर सके हो नहीं भरे पर भी
कब नहीं हर तरह भरे जाते।
पट सके हो न पाटने पर भी
पेट तुम से निपट नहीं पाते॥

(१३)

फूल से हम जिसे न मार सके
है वही आज भोंकता भाला।
आज है खा रहा कलेजा वह
है कलेजा खिला जिसे पाला॥

(१४)

चाँद ऐसा खिल अगर सकता नहीं
क्यों न तो वह फूल जैसा ही खिले।
क्या छुटाई में भलाई है नहीं
दिल करे छोटा न छोटा दिल मिले॥

(१५)

सूखती चाह-बेलि हरिआई
दूध की मक्खियाँ बनीं माखें।
रस बहा चाँदनी निकल आई
खिल गये कौल हँस पड़ीं आँखें॥

(१६)

लालसा है रस बरसती ही रहे,
पर तुम्हारी आँख रिस से लाल है।
यह चमेली है खिलाना आग में
यह हथेली पर जमाना बाल है॥

(१७)

थिर नहीं होतीं थिरकती हैं बहुत
हैं थिरकने में गतों को जाँचतीं।
काठ का पुतला ललकतों को बना
आँख तेरी पुतलियाँ हैं नाचतीं॥

कैकेयी का अनुताप

सबने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा।
बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरंगा,
वह सिंही अब थी हहा! गोमुखी गंगा—

"हाँ जनकर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।

दुर्बलता का ही चिह्न विशेष शपथ है,
पर अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है?
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ।

ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो,
पाओ यदि उसमें सार उसे सब चुन लो।
करके पहाड़-सा पाप मौन रह जाऊँ?
राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ?"

थी सनक्षत्र शशि-निशा ओस टपकाती,
रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती।
उल्का-सी रानी दिशा दीप्त करती थी,
सबमें भय-विस्मय और खेद भरती थी।

"क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।
जल पंजर-गत अब अरे अधीर, अभागे,
वे ज्वलित भाव थे स्वयं तुझी में जागे।

पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन में?
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र, क्या तेरा?
पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा।

थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके?
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे,
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे?

कहते आते थे यही अभी नरदेही,
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।'
अब कहें सभी यह हाय! विरुद्ध विधाता—
'हैं पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'

बस मैंने इसका बाह्य-मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा,
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,
इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा!

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।"

"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।"
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"

"हा! लाल! उसे भी आज गमाया मैंने,
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने।
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने,
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने।

पर वही आज यह दीन हुआ रोता है,
शंकित सबसे धृत हरिण-तुल्य होता है।
श्रीखण्ड आज अंगार-चण्ड है मेरा,
तो इससे बढ़कर कौन दण्ड है मेरा?

पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद में,
जन क्या क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में?
हा! दण्ड, कौन, क्या उसे डरूँगी अब भी?
मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी।

हा दया! हन्त वह घृणा! अहह वह करुणा।
वैतरणी-सी हैं आज जाह्नवी-वरुणा।
सह सकती हूँ चिरनरक, सुनें सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी।

लेकर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा,
मैंने इसके ही लिए तुम्हें वन भेजा।
घर चलो इसी के लिए, न रूठो अब यों,
कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों?

मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझसे न्यारे।
मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम,
अपने से पहले इसे मानते हो तुम।

तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
यदि वह सब पर यों प्रकट हुआ है वैसा।
तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा,
मैं रहूँ पंकिला, पद्म-कोष है मेरा।

आगत ज्ञानीजन उच्च भाल ले लेकर,
समझावें तुमको अतुल युक्तियाँ देकर।
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा।

देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है,
दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहाँ फलती है।"
हँस पड़े देव केकयी-कथन यह सुनकर,
रो दिये क्षुब्ध दुर्दैव दैत्य सिर धुनकर।

"छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का,
बल दिया उसी ने भूल मान लेने का।
अब कटे सभी ने पाश नाश के प्रेरे,
मैं वही केकयी, वही राम तुम मेरे।

होने पर बहुधा अर्ध रात्रि अन्धेरी,
जीजी आकर करती पुकार थीं मेरी—
"लो कुहुकिनि, अपना कुहुक, राम यह जागा,
निज मँझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा।

भ्रम हुआ भरत पर मुझे व्यर्थ संशय का,
प्रतिहिंसा ने ले लिया स्थान सब भय का।
तुम पर भी ऐसी भ्रान्ति भरत से पाती,
तो उसे मनाने भी न यहाँ मैं आती।

जीजी ही आतीं, किन्तु कौन मानेगा?
जो अन्तर्यामी, वही इसे जानेगा।"
"हे अम्ब तुम्हारा राम जानता है सब,
इस कारण वह कुछ खेद मानता है कब?"

"क्या स्वाभिमान रखती न कैकयी रानी?
बतला दे कोई मुझे उच्च कुल-मानी।
सहती कोई अपमान तुम्हारी अम्बा?
पर हाय, आज वह हुई, निपट नालम्बा?

मैं सहज भामिनी रही, सरल क्षत्राणी,
इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी।
पर महा दीन हो गया आज मन मेरा,
भावज्ञ, सहेजो तुम्हीं भाव-धन मेरा।

समुचित ही मुझको विश्व-घृणा ने घेरा,
समझाता कौन सशान्ति मुझे भ्रम मेरा?
यों ही तुम वन को गये, देव सुरपुर को,
मैं बैठी ही रह गई लिये इस उर को।

बुझ गई पिता की चिता भरत-भुजधारी,
पितृभूमि आज भी तप्त तथापि तुम्हारी।
भय और शोक सब दूर उड़ाओ उसका,
चलकर सुचरित, फिर हृदय जुड़ाओ उसका।

हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य सम्हालो,
मैं पाल सकी न स्वधर्म, उसे तुम पालो।
स्वामी को जीते जी न दे सकी सुख मैं,
मरकर तो उनको दिखा सकूँ यह सुख मैं।

मर मिटना भी है एक हमारी क्रीड़ा,
पर भरत-वाक्य है—सहूँ विश्व को व्रीड़ा।
जीवन-नाटक का अन्त कठिन है मेरा,
प्रस्ताव मात्र में जहाँ अधैर्य अँधेरा।

अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता,
करती है तुमसे विनय आज यह माता।"

●

ऊर्मिला-लक्ष्मण-मिलन

पाकर अहा ! उमंग ऊर्मिला-अंग भरे थे,
आली ने हँस कहा—"कहाँ ये रंग भरे थे ?
सुप्रभात है आज, स्वप्न की सच्ची माया।
किन्तु कहाँ वे गीत, यहाँ जब श्रोता आया।

फड़क रहा है वाम नेत्र, उच्छ्वसित हृदय है,
अब भी क्या तन्वंगि, तुम्हें शंशय या भय है ?
आओ, आओ, तनिक तुम्हें सिंगार सजाऊँ,
बरसों की मैं कसक मिटाऊं, बलि-बलि जाऊँ।"

"हाय ! सखी, शृंगार ? मुझे अब भी सोहेंगे ?
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे ?
मैंने जो वह 'दग्ध-वर्त्तिका' चित्र लिखा है ?
तू क्या उसमें आज उठाने चली शिखा है ?

नहीं, नहीं, प्राणेश मुझी से छले न जावें,
जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।
शूर्पणखा मैं नहीं—हाय, तू तो रोती है।
अरी, हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है।

"किन्तु देख यह वेश दुखी होंगे वे कितने ?"
"तो, ला भूषण-वसन, इष्ट हों तुझको जितने।
पर यौवन-उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं ?
वह खोया धन आज कहाँ सखि, पाऊँगी मैं ?"

"अपराधी-सा आज वही तो आने को है,
बरसों का यह दैन्य सदा को आने को है।
कल रोती थी आज मान करने बैठी हो,
कौन राग यह, जिसे गान करने बैठी हो?

रवि को पाकर पुनः पद्मिनी खिल जाती है,
पर वह हिमकण बिना कहाँ शोभा पाती है।"
"तो क्या आँसू नहीं सखी, अब इन आँखों में?
फूटें, पानी न हो बड़ी भी जिन आँखों में?"

"प्रीति-स्वाति का पिया शुक्ति बन-बन कर पानी
राजहंसिनो, चुनो रीति-मुक्ता अब रानी।"
"विरह रुदन मे गया, मिलन मे भी मैं रोऊँ,
मुझे और कुछ नहीं चाहिए, पद-रज धोऊँ।

जब थी तब थी आलि, ऊर्मिला उनकी रानी,
वह बरसों की बात आज हो गई पुरानी।
अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी को दासी,
मैं शासन की नहीं, आज सेवा की प्यासी।

युवती हो या आलि, उर्मिला बाला तन से,
नहीं जानती किन्तु स्वयं, क्या है वह मन से।
देखूँ, कह प्रत्यक्ष आज अपने सपने को?
या सज-बजकर आप दिखाऊँ मैं अपने को?

सखि, यथेष्ट है यही धुली धोती ही मुझको,
लज्जा उनके हाथ, व्यर्थ चिन्ता है तुझको।
उछल रहा यह हृदय अंक में भर ले आली,
निरख तनिक तू आज ढीठ सन्ध्या की लाली।

मान करूँगी आज ? मान के दिन तो बीते,
फिर भी पूरे हुए सभी मेरे मनचीते।
टपक रही वह कुंज-शिला वाली शेफाली,
जा नीचे, दो चार फूल चुन, ले आ डाली।

वनवासी के लिए सुमन की भेंट भली वह।"
"किन्तु उसे तो कभी पा चुका 'प्रिये अली यह।"
देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखी किधर थी ?
पैरों पड़ती हुई ऊर्मिला हाथों पर थी।

लेकर मानो विश्व-विरह उस अन्तः पुर में,
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में।
रोक रही थी उधर मुखर मैंना को चेरी—
'यह हत हरिणी छोड़ गये क्यों नये अहेरी।'

"नाथ, नाथ, क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया ?"
"प्रिये-प्रिये, हाँ आज-आज ही वह दिन आया।
मेघनाद की शक्ति सहन करके यह छाती,
अब भी क्या इन पाद-पल्लवों से न जुड़ाती ?

मिला उसी दिन किंतु तुम्हें मैं खोया-खोया,
जिस दिन आर्या बिना आर्य का मन था रोया।
पूर्ण रूप से सुनो, तुम्हें मैंने कब पाया,
जब आर्या का हनूमान ने विरह सुनाया।

अब तक मानो जिसे वेषभूषा में टाला,
अपने को ही आज मुझे तुमने दे डाला।
आँखों में ही रही अभी तक तुम थीं मानो,
अन्तस्तल में आज अचल निज आसन जानो।

परिधि-विहीन सुधांशु-सदृश सन्ताप-विमोचन
धूलरहित, हिम-धौत सुमन-सा लोचन-रोचन,
अपनी द्युति से आप उदित, आडम्बर त्यागे,
धन्य अनावृत-प्रकृत-रूप यह मेरे आगे।

जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप कामी,
कह सकती हो आज उसे तुम अपना स्वामी।"
"स्वामी, स्वामी, जन्म-जन्म के स्वामी मेरे।
किन्तु कहाँ वे अहोरात्र, वे साँझ-सबेरे।

खोई अपनी हाय! कहाँ वह खिल-खिल खेला?
प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती बेला।"
काँप रही थी देह-लता उसकी रह रहकर,
टपक रहे थे अश्रु कपोलों पर बह बहकर।

"वह वर्षा की बाढ़, गई, उसको जाने दो,
शुचि-गभीरता प्रिये, शरद की यह आने दो।
धरा-धाम को राम-राज्य की जय गाने दो,
लाता है जो समय प्रेम पूर्वक लाने दो।

× × ×

अब जो प्रियतम को पाऊँ।
तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ।
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।
ऊषा-सी आई थी जग में, संन्ध्या-सी क्या जाऊँ?
श्रान्त पवन-से वे आवें मैं सुरभि-समान समाऊँ।

मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ,
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ।
इधर अनल है और उधर जल, हाय किधर मैं जाऊँ।
प्रबल वाष्प, फट जाय न यह घट, कह तो हाहा खाऊँ ?

× × ×

वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर-कनी,
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, जो प्रिय-विशिख-अनी।
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु-सनी,
तू ही उसे उष्ण रक्खेगी मेरी तपन-मनी।
आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टि-जनी।
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी।
अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी,
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची-तनी।
मन-सा मानिक मुझे मिला है मुझमें उपल-खनी,
तुझे तभी छोड़ूँ जब सजनी, पाऊँ प्राण-धनी।

●

यशोधरा-विरह

सखि, बसन्त-से कहाँ गये वे,
मैं ऊष्मा-सी यहाँ रही।
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया,
हाय ! विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया।
सूखा कण्ठ, पसीना छूटा, मृगतृष्णा की माया,
झुलसी दृष्टि, अँधेरा दीखा, दूर गई वह छाया।

मेरा ताप और तप उनका,
जलती है हा ! जठर मही।
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

जागी किसकी बाष्पराशि, जो सूने में सोती थी ?
किसकी स्मृति के बीज उगे ये, सृष्टि जिन्हें बोती थी ?
अरी वृष्टि, ऐसी ही उनकी दया-दृष्टि रोती थी,
विश्व-वेदना की ऐसी ही चमक उन्हें होती थी !

किसके भरे हृदय की धारा,
शतधा होकर आज बही ?
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

उनकी शान्ति-कान्ति की ज्योत्स्ना जगती है पल-पल में,
शरदातप उनके विकास का सूचक है थल-थल में।
नाच उठी आशा प्रति दल पर किरणों की झल-झल में,
खुला सलिल का हृदय-कमल खिल हंसों के कल-कल में।

पर मेरे मध्याह्न! बता क्यों
तेरी मूर्च्छा बनी वही?
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

हेमपुंज, हेमन्तकाल के इस आतप पर वारूँ,
प्रियस्पर्श की पुलकावलि मैं कैसे आज बिसारूँ?
किन्तु शिशिर, ये ठंडी साँसें हाय! कहाँ तक धारूँ?
तन गारूँ, मन मारूँ पर क्या मैं जीवन भी हारूँ?

मेरी बाँह गही स्वामी ने,
मैंने उनकी छाँह गही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

पेड़ों ने पत्ते तक, उनका त्याग देखकर, त्यागे,
मेरा धुँधलापन कुहरा बन छाया सबके आगे।
उनके तप के अग्नि-कुण्ड-से घर-घर में हैं आगे,
मेरे कम्प, हाय! फिर भी तुम नहीं कहीं से भागे।

पानी जमा, परन्तु न मेरे
खट्टे दिन का दूध-दही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

आशा से आकाश थमा है, श्वास-तन्तु कब टूटे ?
दिन-मुख दमके, पल्लव चमके, भव से नव रस लूटे !
स्वामी के सद्भाव फैल कर फूल-फूल में फूटे,
उन्हें खोजने को ही मानो नूतन निर्झर छूटे !

उनके श्रम के फल सब भोगें,
यशोधरा की विनय यही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

●

कंस

नियति कौन है ? एक नियन्ता
मैं ही अपना आप;
कर्म-भीरुओं का आकुंचन,
एक मात्र यह पाप।

धर्म एक, बस अग्नि-धर्म है,
जो आवे सो छार।
जल भी उड़े वाष्प बन बन कर
मल भी हो अंगार।

फूँक-फूँक कर पैर धरोगे
धरती पर तुम मूढ़ ?
तो फिर हटो, भाड़ में जाओ,
पाओ निज गति गूढ़।

मैं निश्चिन्त बढ़ूँगा आगे,
पहने पादत्राण;
बचें कीट-कंटक, यदि उनको
प्रिय हैं अपने प्राण।

बनता नहीं ईंट-गारे से
वह साम्राज्य विशाल,
सुनो, चुने जाते हैं उसमें
रुधिराप्लुत कंकाल!

लिखो भले उसकी भीतों पर
दया-धर्म के चित्र,
सदा भुलाते रहें जनों को
जिनके चटुल चरित्र !

देख कहीं दो बूँद नेत्र-जल
तुम गल गये तुरन्त,
जान लिया तो बस मिट्टी के
पुतले ही तुम सन्त !

ठौर अंक में पा सकती है
कोई मृदुता-मूर्ति,
किन्तु हृदय में एक कठिनता
कर्मठता की पूर्ति।

जितने भी बन्धन हैं, वे सब
अबलों के ही अर्थ,
बन्धन बन्धन ही है, तोड़ो,
यदि तुम सबल समर्थ।

ठहर ब्रह्मवादी, बकता है,
तू क्या अब्रह्मण्य ?
तेरा ब्रह्म और तू दोनों
मेरे निकट नगण्य।

अटल एक ही न्याय जगत में,
वह है मत्स्यन्याय,
और एक ही असमर्थों का
है बस मरण उपाय।

चुप रह, भावि बुद्ध के बच्चे !
ले तू अपनी बाट,
नागर बन कर भी क्या तूने
छोड़ी वन की चाट ?

मैं हूँ अहंब्रह्म - विश्वासी,
परब्रह्म है कौन ?
नर ही नारायण है, नर मैं,
सुनो इसे सब मौन।

भाग्यवान भगवान आप मैं,
सब हों मेरे भक्त,
नियम मानते हैं सशक्त ही,
रचते उन्हें सशक्त।

बढ़ा-बढ़ा कर जन्म-जन्म में,
मैं मन के संस्कार,
कर सकता क्या नहीं एक दिन
अग-जग पर अधिकार ?

क्या कर सकता नहीं आप मैं ?
मेरा कर्ता कौन ?
कोई सिद्धि, जिसे मैं चाहूँ,
उसका हर्त्ता कौन ?

साँप न जाय न लाठी टूटे,
बुरी नहीं यह रीति,
किन्तु कापुरुषता है फिर भी,
कूटनीति क्या नीति ?

टूट जाय टूटे जो लाठी,
बने रहें भुजदण्ड,
देखे मुझे लपेट नाग भी,
करूँ शुण्ड सौ खण्ड।

कलाकार था वह, जिसने की
नग्न रूप की सृष्टि,
किन्तु नग्नता पर ही पहले
पड़ी सत्य की दृष्टि।

कुछ भी गोपन रहे न मुझको,
देखूँ सब प्रत्यक्ष,
झीना भी आवरण न रक्खे,
मेरा कोई लक्ष।

कहने भर के लिए एक मिस
ले रखना है ठीक,
बनें प्रकृति-पन्थी नंगे भी
नाचो तुम निर्भीक।

सबका यहाँ समर्थन देखा,
सबका यहीं विरोध,
पियो मोद से, बना रहे बस
तुमको मेरा बोध।

बाधक और वृद्ध हो तुम तो
बद्ध रहो चुपचाप,
रहे भले ही फिर तुम मेरे
बहनोई या बाप!

अरी देवकी, क्यों फिरती है
मेरे आगे दीन ?
राजा का आत्मीय कौन है,
जो है आज्ञाहीन।

श्रीफल फोड़ फोड़ कर कितने
बलि देते हैं लोग,
कुछ शिशुओं के सिर की बलि दे
साधा मैंने योग।

मैं शिशुपाल नहीं, सोचें वे,
सिहरें जिनके गात्र,
जरासन्ध का जामाता मैं,
वह, सेनापति मात्र।

जैसे फल वैसे ही सिर भी
काट सके सो धार,
पुण्य-पाप क्या है, पौरुष ही
एक मात्र है सार।

रोया करें क्यों न किन्नर-कवि
कह कर मुझे नृशंस,
किन्तु अपौरुषेय क्या उनका
यदि अमानुषिक कंस ?

तुम विश्वास करो तो कोई
क्यों न करेगा घात ?
दिखला दी वसुदेव - देवकी
दोनों ने यह बात।

घुसी दया बन कर दुर्बलता,
हट दुर्बलते, दूर,
कंस बली है, कहे, भले ही
कोई उसको क्रूर।

फिर भी इसे मानता हूँ मैं,
भय का नाम परोक्ष,
वे शिशु फिर न जियें, पाकर भी
मेरे हाथों मोक्ष।

वे मेरे देखे, पर ओहो!
उनकी आकृति आज।
धूमकेतु में पलट गया क्या
वह नक्षत्र - समाज!

सर्प रूप धर क्लिन्न केंचुए
करते हैं फुंकार;
अथवा ये झंझा के झोंके
भरते हैं हुंकार।

दीप-शिखा बढ़ बुझी अचानक,
यह कैसा उत्पात?
क्या सचमुच मैं सिहर उठा हूँ,
यह लज्जा की बात।

आवे, आवे, जो चाहे सो
दिखलावे निज नाच,
बैठा हूँ मैं आप तिमिर में
बन कर प्रेत-पिशाच।

जाओ बच्चो, तुम अनन्त में
विचरो, यही विवेक,
देखूँ उसको, जो तुममें से
बच निकला है एक।

सुना, किशोर मात्र है केशव,
सम्मुख नहीं परन्तु,
तभी जान पड़ता है मुझको
एक बड़ा-सा जन्तु।

धिक्, फिर भी क्या चौंक गया मैं,
ढीला पड़ा किरीट!
अच्छा देखूँ क्यों न बुला कर
वैसा है वह कीट।

यह घन गरजा, हाँ, समुचित है
इसका तर्जन-नाद,
सचमुच मैं कर गया उपेक्षा,
मुझसे हुआ प्रमाद।

और इसीसे वासुदेव बच
बड़ा हो गया आज,
भीति न जगती हो, पर मुझको
लगती है यह लाज।

धर बैठा वह मोरमुकुट भी,
शासन-दण्ड सुवेणु,
नारद का कहना है--'मेरी
वीणा है बस रेणु।'

कहते हैं, कुछ चमत्कार भी
दिखलाता है कृष्ण,
उसका मरणामृत पीने को,
मैं भी आज सतृष्ण।

धड़कन नहीं, चला है मेरे
भीतर एक प्रवाह,
यह क्या, यह क्या, चमकी चपला-
अम्बर की असि आह।

भित्ति-चित्र भी चलते-से क्या
दीख गये क्षण काल?
द्वापर ही द्वापर है मेरे
चारों ओर अराल।

अरे, कौन है? बुला शीघ्र ही,
आवे वह अक्रूर,
कह दे, बाहर जाना होगा,
पर थोड़ी ही दूर।

भ्रम हो, भय हो, अप्रत्यय हो,
सशय, अनृत, यथार्थ,
जो भी हो, आ जावे खुलकर,
देखे फिर पुरुषार्थ,

श्रद्धा

"कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?

मधुर विश्रान्त और एकान्त
जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य !

सुना यह मनु ने मधु गुंजार
मधुकरी का-सा जब सानन्द,
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द ।

एक झिटका-सा लगा सहर्ष,
निखरने लगे लुटे से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन ।

और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम,
कुसुम-वैभव में लता समान
चन्द्रिका से लिपटा घन श्याम ।

हृदय की अनुकृति वाह्य उदार
एक लम्बी काया, उन्मुक्त,
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।

मसृण गांधार देश के, नील
रोम वाले मेषों के चर्म,
ढँक रहे थे उसका वपु कान्त
बन रहा था वह कोमल वर्म।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घन श्याम,
अरुण रवि-मण्डल उनको भेद,
दिखाई देता हो छविधाम।

या कि, नव इन्द्र नील लघु श्रृंग
फोड़ कर धधक रही हो कान्त,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास,
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।

और उस मुख पर वह मुसक्यान
रक्त किसलय पर ले विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम

नित्य यौवन छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण कामना मर्ति,
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।

उषा की पहिली लेखा कांत,
माधुरी से भींगी भर मोद,
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।

कुसुम कानन-अंचल में मंद
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।

और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध,
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध।

कहा मनु ने, नभ धरणी बीच
बना जीवन रहस्य निरुपाय,
एक उल्का-सा जलता भ्रांत,
शून्य में फिरता हूँ असहाय।

शैल निर्झर न बना हतभाग्य
गल नहीं सका जो कि हिम-खंड,
दौड़कर मिला न जलनिधि अंक
आह वैसा ही हूँ पाषंड।

पहेली सा जीवन है व्यस्त
उसे सुलझाने का अभिमान
बताता है विस्मृति का मार्ग
चल रहा हूँ बन कर अनजान।

भूलता ही जाता दिन रात
सजल अभिलाषा कलित अतीत,
बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य,
दीन जीवन का यह संगीत।

क्या कहूँ, क्या कहूँ मैं उद्भ्रान्त
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग,
शून्यता का उजड़ा सा राज।

एक विस्मृति का स्तूप अचेत,
ज्योति का धुँधला सा प्रतिबिम्ब,
और जड़ता की जीवन राशि
सफलता का संकलित विलम्ब।

"कौन हो तुम वसंत के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार!
घन तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मन्द बयार।

नखत की आशा किरण समान
हृदय के कोमल कवि की कांत-
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शांत।"

लगा कहने आगंतुक व्यक्ति
मिटाता उत्कंठा सविशेष,
दे रहा हो कोकिल सानन्द
सुमन को ज्यों मधुमय संदेश।

"भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान
इधर रह गधर्वों के देश
पिता की हूँ प्यारी संतान।

घूमने का मेरा अभ्यास,
बढ़ा था मुक्त व्योम-तल नित्य,
कुतूहल खोज रहा था व्यस्त
हृदय सत्ता का सुंदर सत्य।

दृष्टि जब जाती हिम-गिरि ओर
प्रश्न करता मन अधिक अधीर,
धरा को यह सिकुड़न भयभीत
आह कैसी है? क्या है पीर?

मधुरिमा में अपनी ही मौन,
एक सोया संदेश महान,
सजग हो करता था संकेत,
चेतना मचल उठी अनजान।

बढ़ा मन और चले ये पैर,
शैल मालाओं का शृंगार,
आँख की भूख मिटी यह देख
आह कितना सुंदर सम्भार!

एक दिन सहसा सिंधु अपार
लगा टकराने नग तल क्षुब्ध,
अकेला यह जीवन निरुपाय
आज तक घूम रहा विश्रब्ध।

यहाँ देखा कुछ बलि का अन्न,
भूत-हित-रत किसका यह दान।
इधर कोई है अभी सजीव
हुआ ऐसा मन में अनुमान।

तपस्वी! क्यों इतने हो क्लान्त?
वेदना का यह कैसा वेग?
आह! तुम कितने अधिक हताश
बताओ यह कैसा उद्वेग!

हृदय में क्या है नहीं अधीर,
लालसा जीवन को निश्शेष?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश!

दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बन कर अनजान।

कर रही लीलामय आनन्द,
महा चिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त।

काम मंगल से मंडित श्रेय,
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

"दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल।

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान,
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुखमणि गण द्युतिमान।"

लगे कहने मनु सहित विषाद:-
"मधुर मारुत से ये उच्छ्वास,
अधिक उत्साह तरंग अबाध
उठाते मानस में सविलास।

किन्तु जीवन कितना निरुपाय!
लिया है देख नहीं सन्देह,
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह।"

कहा आगन्तुक ने सस्नेह—
"अरे तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर।

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।

प्रकृति के यौवन का शृङ्गार
करेंगे कभी न बासी फूल,
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक हैं उनकी धूल।

पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनन्द
किये है परिवर्तन में टेक।

युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद-चिह्न चली गंभीर,
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।

"एक तुम, यह विस्तृत भू-खंड
प्रकृति वैभव से भरा अमंद,
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द।

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते? तुच्छ विचार!
तपस्वी! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म विस्तार।

दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कहीं अवलंब,
तुम्हारा सहचर बन कर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब?

समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद तल में विगत विकार।

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिये खुला है पास।

बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल,
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुंदर खेल।

"और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान—
"शक्तिशाली हो, विजयी बनो'
विश्व में गूँज रहा जय गान।

"डरो मत अरे अमृत संतान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केंद्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

देव - असफलताओं का ध्वंस
प्रचुर उपकरण जुटा कर आज,
पड़ा है बन मानव संपत्ति
पूर्ण हो मन का चेतन राज।

चेतना का सुंदर इतिहास
अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।

विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण,
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।

उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानंद,
आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बन्द।

जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप, कच्छप डूबें - उतरायँ,
किंतु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार
हँसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीड़ामय संचार।

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।"

●

वे कुछ दिन कितने सुंदर थे ?

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ?
जब सावन-घन-सघन बरसते-
इन आँखों की छाया भर थे।

सुरधनु रंजित नव-जलधर से-
भरे, क्षितिज व्यापी अंबर से,
मिले चूमते जब सरिता के,
हरित कूल युग मधुर अधर थे।

प्राण पपीहा के स्वर वाली-
बरस रही थी जब हरियाली-
रस जलकन मालती-मुकुल से-
जो मदमाते गन्ध विधुर थे।

चित्र खींचती थी जब चपला,
नील मेघ-पट पर वह विरला,
मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें-
खिल उठते वे रूप मधुर थे।

ले चल वहाँ भुलावा देकर

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे।

जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी-
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

जहाँ साँझ-सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो,
ताराओं की पाँति घनी रे।

जिस गम्भीर मधुर छाया में-
विश्व चित्र-पट चल माया में-
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे।

श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से-
जहाँ सृजन करते मेला से-
अमर जागरण उषा नयन से-
बिखराती हो ज्योति घनी रे!

●

हे सागर संगम अरुण नील !

हे सागर संगम अरुण नील।
अतलान्त महा गम्भीर जलधि
तज कर अपनी यह नियत अवधि,
लहरों के भीषण हासों में,
आकर खारे उच्छ्वासों में,
युग युग की मधुर कामना के—
बन्धन को देता जहाँ ढील।
हे सागर संगम अरुण नील।

पिंगल किरणों-सी मधु-लेखा,
हिम-शैल बालिका को तूने कब देखा!
कलरव संगीत सुनाती,
किस अतीत युग को गाथा गाती आती।
आगमन, अनन्त मिलन बनकर-
बिखराता फेनिल तरल खील।
हे सागर संगम अरुण नील।

आकुल अकूल बनने आती,
अब तक तो है वह आती,
देवलोक की अमृत कथा की माया-
छोड़ हरित कानन की आलस छाया-
विश्राम माँगती अपना।
जिसका देखा था सपना-
निस्सीम व्योम तल नील अंक में,
अरुण ज्योति की झील बनेगी कब सलील?
हे सागर संगम अरुण नील।

●

अशोक की चिन्ता

जलता यह जीवन-पतंग
जीवन कितना? अति लघु क्षण,
ये शलभ पुञ्ज से कण-कण,
तृष्णा वह अनलशिखा बन—
दिखलाती रक्तिम यौवन।
जलने को क्यों न उठे उमंग?

है ऊँचा आज मगध-शिर—
पदतल में विजित पड़ा गिर,
दूरागत क्रन्दन-ध्वनि फिर
क्यों गूँज रही है अस्थिर—
कर विजयी का अभिमान भंग?

इन प्यासी तलवारों से,
इनकी पैनी धारों से,
निर्दयता की मारों से,
उन हिंसक हुंकारों से,
नत-मस्तक आज हुआ कलिंग।

यह सुख कैसा शासन का?
शासन रे मानव मन का।
गिरि-भार बना-सा तिनका,
यह घटाटोप दो दिन का—
फिर रवि-शशि-किरणों का प्रसंग!

यह महादम्भ का दानव—
पीकर अनंग का आसव—
कर चुका महाभीषण रव,
सुख दे प्राणी को मानव
तज विजय पराजय का कुढंग।

संकेत कौन दिखलाती,
मुकुटों को सहज गिराती,
जयमाला सूखी जाती,
नश्वरता गीत सुनाती,
तब नहीं थिरकते हैं तुरंग।

वैभव की यह मधुशाला,
जग पागल होने वाला,
अब गिरा—उठा मतवाला,
प्याले में फिर भी हाला,
यह क्षणिक चल रहा राग-रंग।

काली काली अलकों में,
आलस, मद नत पलकों में,
मणि मुक्ता की झलकों में,
सुख की प्यासी ललकों में,
देखा क्षण-भंगुर है तरंग।

फिर निर्जन उत्सव-शाला,
नीरव नूपुर इलथ माला,
सो जाती है मधुबाला,
सूखा लुढ़का है प्याला,
बजती वीणा न वहाँ मृदंग।

इस नील विषाद गगन में—
सुख चपला-सा दुख-घन में,
चिर विरह नवीन मिलन में,
इस मरु-मरीचिका-वन में—
उलझा है चंचल मन-कुरंग।

आँसू कन-कन ले छल-छल—
सरिता भर रही दृगंचल,
सब अपने में हैं चंचल
छूटे जाते सूने पल,
खाली न काल का है निषंग।

वेदना विकल यह चेतन,
जड़ का पीड़ा से नर्तन,
लय-सीमा में यह कम्पन,
अभिनयमय है परिवर्तन,
चल रहा यही कब से कुढंग।

करुणा गाथा गाती है,
यह वायु वही जाती है,
ऊषा उदास आती है,
मुख पीला ले जाती है,
बन मधु पिंगल सन्ध्या सुरंग।

अशोक किरन है आती,
रेशमी डोर खिंच जाती,
दृग पुतली कुछ नच पाती,
फिर तम पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग।

जब पल भर का है मिलना,
फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्रात है खिलना,
फिर सूख धूल में मिलना,
तब क्यों चटकीला सुमन रंग ?

संसृति के विक्षत पग रे।
यह चलती है डगमग रे।
अनुलेप सदृश तू लग रे।
मृदु दल बिखेर इस मग रे।
कर चुके मधुर मधुपान भृंग।

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग,
कंटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग,
चलता है यह जीवन पतंग।

आँसू

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।

मेरे क्रन्दन में बजती
क्या वीणा?—जो सुनते हो
धागों से इन आँसू के
निज करुणा-पट बुनते हो।

रो-रोकर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।

मैं बल खाता जाता था
मोहित बेसुध बलिहारी
अन्तर के तार खिंचे थे
तीखी थी तान हमारी।

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को
सब ने आ डेरा डाला।

घिर जातीं प्रलय घटाएँ
कुटिया पर आकर मेरी
तम-चूर्ण बरस जाता था
छा जाती अधिक अँधेरी।

बिजली माला पहने फिर
मुसक्याता-सा आँगन में
हाँ, कौन बरस जाता था
रस-बूँद हमारे मन में?

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन-संगी
कल्याण कलित इस मग के।

कितनी निर्जन रजनी में
तारों के दीप जलाये
स्वर्गंगा की धारा में
उज्ज्वल उपहार चढ़ाये।

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिंचन,
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।

मधु राका मुसक्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित-से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको!

परिचय राका जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से।

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।

निर्झर-सा झिर-झिर करता
माधवी-कुंज छाया में
चेतना बही जाती थी
हो मन्त्र-मुग्ध माया में।

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी-सी फुलवारी में
किसलय नव कुसुम बिछाकर
आये तुम इस क्यारी में।

शशि-मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये।

घन में सुन्दर बिजली-सी
बिजली में चपल चमक-सी
आँखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक-सी।

प्रतिमा में सजीवता-सी
बस गई सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में।

माना कि रूप-सीमा है
सुन्दर! तव चिर यौवन में
पर समा गये थे, मेरे
मन के निस्सीम गगन में।

लावण्य-शैल राई-सा
जिस पर वारो बलिहारो
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी-प्यारी।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

भर देते हो

भर देते हो
बार-बार, प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
मेरे अन्तर में आते हो, देव, निरन्तर,
कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार बार कर-कंज बढ़ाकर,
अन्धकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अंचल को
करता है क्षण-क्षण-

कुसुम-कपोलों पर वे लोल शिशिर-कण,
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो,
नव प्रभात जीवन में भर देते हो।

●

मौन रही हार

मौन रही हार,
प्रिय - पथ चलती,
सब कहते शृंगार !

कण - कण कर कङ्कण, प्रिय
किण - किण रव किङ्किणी,
रणन - रणन नूपुर, उर लाज,
लोट रंकिणी,

और मुखर पायल स्वर करें बार - बार,
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार !

शब्द सुना हो, तो अब
लौट कहाँ जाऊँ ?
उन चरणों को छोड़ और
शरण कहाँ पाऊं ?—

बजे सजे उर के इस सुर के सब तार—
प्रिय - पथ पर चलती, सब कहते शृंगार !

●

भावना रँग दी तुमने प्राण

भावना रँग दी तुमने प्राण,
छन्द - बन्दों में निज आह्वान।

दिशाओं के सहस्र - दश दल
खुल गये नये - नये कोमल,
मध्य तुम बैठी चिर-अचपल,
बह रहा प्रतिपल सौरभ-ज्ञान।

ओस - आँसुओं-धुली नव गात,
स्पष्ट नयनों में नूतन प्रात,
झर रहा वात चपल तब बात,
कर रहा पलक-पात कर - दान।

बैठ जीवन - उपवन में मन्द-
मन्द सिखलाती नव-नव छन्द,
चतुर्दिक प्रभा, प्रभा, आनन्द
हर रहा जड़-निशि-कृश अज्ञान।

●

धारा

बहने दो,
रोक टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है ?

गरज गरज वह क्या कहती है, कहने दो–
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो।
सुना, रोकने उसे कभी कुंजर आया था,
दशा हुई फिर क्या उसकी ?
फल क्या पाया था ?

तिनका–जैसा मारा मारा
फिरा तरंगों में बेचारा–
गर्व गँवाया हारा,
अगर हठ-वश आओगे,
दुर्दशा करवाओगे–बह जाओगे।

देखते नहीं ?–वेग से लहराती है–
नग्न प्रलय का–सा तांडव हो रहा–
चाल कैसी मतवाली-लहराती है–
प्रकृति को देख, मींचती आँखें,
त्रस्त खड़ी है—थर्राती है।

आज हो गए ढीले सारे बन्धन,
मुक्त हो गए प्राण,
रुका है सारा करुणा-क्रन्दन।
बहती कैसी पागल उसकी धारा !
हाथ जोड़कर खड़ा देखता दीन
विश्व यह सारा।

बड़े दम्भ से खड़े हुए थे भू-धर
समझे थे जिसे बालिका
आज ढहाते शिला-खंड-चय देख
काँपते थर-थर—
शिला-खंड नर-मुंड-मालिनी कहते उसे कालिका।

छुटी लट इधर उधर लटकी है,
श्याम वक्ष पर खेल रही है
स्वर्ण-किरण-रेखाएँ,
एक पर दृष्टि जरा अटकी है,
देखा एक कली चटकी है।

लहरों पर लहरों का चंचल नाच,
याद नहीं थी करनी उसकी जाँच
अगर पूछता कोई तो वह कहती,
उसी तरह हँसती पागल-सी बहती,—

"नव जीवन की प्रबल उमंग,
जा रही मैं मिलने के लिए, पारकर सीमा,
प्रियतम असीम के संग।

●

कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना ?

कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना ?
सीखा केवल हँसना—केवल हँसना—
शुभ्र-किरण वसना !

मन्द मलय भर अङ्ग-गन्ध मृदु
बादल अलकावलि कुंचित-ऋजु,
तारक हार, चन्द्र मुख, मधु ऋतु
सुकृत-पुंज-अशना ।

नहीं लाज, भय, अनृत, अनय, दुख
लहराता उर मधुर प्रणय-सुख,
अनायास ही ज्योतिर्मय-मुख
स्नेह-पाश-कसना ।

चंचल कैसे रूप - गर्व - बल
तरल सदा बहतीं कल-कल-कल,
रूप-राशि में टलमल-टलमल,
कुन्द-धवल-दशना ।

स्नेह निर्झर बह गया है

स्नेह निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।

आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है-"अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ -
जीवन दह गया है।

दिये हैं मैंने जगत को फूल-फल,
किया है अपनी प्रभा से चकित - चल,
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल -
ठाट जीवन का वही
जो ढह गया है।

अब नहीं आतो पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को निरुपमा।
बह रही है हृदय पर केवल अमा,
मैं अलक्षित हूँ, यही
कवि कह गया है।

●

सन्ध्या सुन्दरी

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे - धीरे - धीरे
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर - मधुर हैं दोनों उसके अधर,
किन्तु जरा गम्भीर, -नहीं है उनमें हास - विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले - काले बालों से,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की - सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग - राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुनझुन - रुनझुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द - सा "चुप, चुप, चुप"
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योम मंडल में—जगतीतल में—
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल-कमलिनी-दल में—
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अति विस्मृत कक्षःस्थल में—
धीर-वीर-गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में—

उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि-प्रबल में-
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल - अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप, चुप, चुप"
है गूँज रहा सब कहीं –
और क्या है ? कुछ नहीं।
मदिरा की वह नदी बहाती आती,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला एक पिलाती,
सुलाती उन्हें अंक पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृत के वह अगणित मीठे सपने,
अर्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती जब लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कंठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।

●

बादल राग

[१]

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर ।

झर-झर-झर निर्झर-गिरि-सर में
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित्-तडित गति-चकित पवन में,
मन में, विजन गहन-कानन में,
आनन-आनन में, रव घोर कठोर
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर ।

अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू, बरस-बरस रस-धार ।
पार ले चल तू मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जन-भैरव-संसार ।

उथल पुथल कर हृदय
मचा हलचल
चल रे चल,
मेरे पागल बादल ।.....

धँसता दल-दल,
हँसता है नद खल्-खल्
बहता, कहता कुल-कुल कल-कल कल-कल ।
देख-देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल-बेकल,

इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर गुरु-गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर।
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर।

[२]

ऐ निर्बन्ध!
अन्ध-तम-अगम-अनर्गल—बादल!
ऐ स्वच्छंद!
मन्द चंचल-समीर-रथ पर उच्छृङ्खल।
ऐ उद्दाम!
अपार कामनाओं के प्राण!
बाधा-रहित विराट्!
ऐ विप्लव के प्लावन!
सावन-घोर गगन के
ऐ सम्राट्!
ऐ अटूट पर छूट-छूट पड़ने वाले उन्माद!
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़नेवाले अपवाद!
श्री बिखेर, मुख फेर कली के निष्ठुर पीड़न
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-घन-उपवन,
वज्र-घोष से ऐ प्रचंड!
आतंक जमानेवाले,
कम्पित जंगम, नीड-विहंगम,
ऐ न व्यथा पानेवाले।
भय के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर।

[३]

निरंजन बने नयन-अंजन।
कभी चपल-गति, अस्थिर-मति,

जल-कलकल तरल प्रवाह,
वह उत्थान-पतन-हत अविरत
संसृति-गत उत्साह,
कभी दुख-दाह,
कभी जलनिधि-जल विपुल अथाह,
कभी क्रीडारत साथ प्रभंजन
बने नयन-अंजन।

कभी किरण-कर पकड़-पकड़ कर
चढ़ते हो तुम मुक्त गगन पर।
झलमल ज्याति अयुत-कर-किंकर,
सीस झुकाते तुम्हें तिमिरहर।
अहे कार्य से गत कारण पर!
निराकार, हैं तीनों मिले भुवन—
बने नयन-अंजन।

आज श्याम-घन श्याम, श्याम छवि,
मुक्त-कंठ है तुम्हें देख कवि,
अहो कुसुम-कोमल कठोर-पवि!
शत-सहस्र-नक्षत्र-चन्द्र-रवि-संस्तुत
नयन-मनोरंजन!
बने नयन-अंजन!

●

प्रार्थना

जग के उर्वर-आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन।
बरसो लघुलघु तृण तरु पर
हे चिर-अव्यय, चिर नूतन!

बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय-धन,
स्मिति-स्वप्न अधर-पलकों में,
उर अंगों में सुख-यौवन!

छू-छू जग के मृत रज-कण
कर दो तृण-तरु में चेतन,
मृण्मरण बाँध दो जग का,
दे प्राणों का आलिंगन!

बरसो सुख बन, सुषमा बन,
बरसो जग-जीवन के घन!
दिशि-दिशि में औ' पल-पल में
बरसो संसृति के सावन!

●

पर्वत प्रदेश में पावस

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश;
पल पल परिवर्तित प्रकृति देश।

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार,

—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल!

गिरि का गौरव गाकर झर्-झर्
मद में नस नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों - से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर।

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर!
उच्चाकाङ्क्षाओं से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष; अटल, कुछ चिन्ता पर!

—उड़ गया, अचानक, लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर!
रव शेष रह गए हैं निर्झर!
है टूट पड़ा भू पर अम्बर!

धँस गये धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल !
—यों जलद यान में विचर-विचर
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल !

(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर !)

इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी;
सरल शैशव की सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।

शिशु

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम ?
अये अभिनव, अभिराम !

मृदुलता ही है बस आकार,
मधुरिमा-छवि, शृंगार;
न अंगों में है रंग उभार,
न मृदु-उर में उद्गार;

निरे साँसों के पिंजर द्वार !
कौन हो तुम अकलंक, अकाम ?

कामना - से मा की सुकुमार
स्नेह में चिर साकार;
मृदुल-कुड्मल-से जिसे न ज्ञात
सुरभि का निज संसार;
स्रोत - से नव, अवदात,
स्खलित अविदित-पथ पर अविचार;

कौन तुम गूढ, गहन, अज्ञात ?
अहे निरुपम, नवजात !

वेणु-से जिसकी मधुमय-तान
दुरी हो अन्तर में अनजान;
विरल उडु-से सरसी में तात !
इतर हो जिसका वासस्थान;
लहर से लघु, नादान,
कंप अम्बुधि की एक महान;

विमल हिमजल-से एक प्रभात
कहीं से उतरे तुम छविमान।

गीति - से जीवन में लयमान,
भाव जिसके अस्पष्ट, अजान;
सुरभि-से जिसे विहान
उड़ा लाया हो प्राण;
स्वप्न-से निद्रित सजग समान,
सुप्ति में जिसे न अपना ज्ञान;
रश्मि - से शुचि रुचिमान
बीचि में पड़ी वितान;

स्वीय स्मिति-से ही हे अज्ञान,
दिव्यता का निज तुम्हें न ध्यान !

खेलती अधरों पर मुसकान
पूर्व सुधि-सी अम्लान,
सरल उर की सी मृदु आलाप,
अनवगत जिसका गान;
कौन सी अमर गिरा यह, प्राण !
कौन से राग, छन्द, आख्यान ?
स्वप्न लोकों में किन चुपचाप
विचरते तुम इच्छा गतिवान !

न अपना ही, न जगत का ज्ञान,
न परिचित हैं निज नयन, न कान;
दीखता है जग कैसा तात।
नाम, गुण रूप अजान ?

तुम्हीं-सा हूँ मैं भी अज्ञात,
वत्स ! जग है अज्ञेय महान !

●

आँसू से

विरह है अथवा यह वरदान !
कल्पना में है कसकती-वेदना,
अश्रु में जीता, सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं;
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है !

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान;
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान !

हाय किसके उर में
उतारूँ अपने उर का भार !
किसे अब दूँ उपहार
गूँथ यह अश्रुकणों का हार !!

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन,
मानस-सा उमड़ा अपार मन ;
गहरे धुँधले, धुले, साँवले ,
मेघों-से मेरे भरे नयन !

कभी उर में अगणित मृदु-भाव
कूजते हैं विहगों-से हाय !
अरुण कलियों-से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय !

इन्द्रधनु - सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी कुहरे सी धूमिल, घोर,
दीखती भावी चारों ओर!

तड़ित सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर;
जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान!

धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल,
आज सोने का सन्ध्याकाल
जल रहा जतुगृह सा विकराल;

पटक रवि को बलि सा पाताल
एक ही वामन-पग में—
लपकता है तमिस्र तत्काल,
—धुएँ का विश्व विशाल!

चिनगियों-से तारों को डाल
आग का सा अँगार शशि लाल
लहकता है,—फैला मणि-जाल,
जगत को डसता है तम व्याल!

पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि!
सरल शुक सी सुखकर सुर में
तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती हैं उर में;

अगन-से मेरे पुलकित प्राण
सहस्रों सरस स्वरों में कूक,
तुम्हारा करते हैं आह्वान,
गिरा रहती है श्रुति सी मूक!

देखता हूँ जब उपवन
पियालों मे फूलों में
प्रिये भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधु कर को;

नवोढ़ा बाल-लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर;

अकेली आकुलता सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात!

देखता हूँ, जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला;

तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अन्तर्धान;
न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान!

× × ×

बादलों के छायामय मेल
घूमते हैं आँखों में, फैल!
अवनि औ' अम्बर के वे खेल
शैल में जलद, जलद में शैल!

शिखर पर विचर मरुत-रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर,
मेमनों-से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर।

द्विरद-दन्तों-से उठ सुन्दर,
सुखद कर-सीकर-से बढ़ कर
भूति-से शोभित बिखर बिखर,
फैल फिर कटि के-से परिकर,
बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर!

इन्द्रधनु की सुन कर टङ्कार
उचक चपला के चञ्चल बाल,
दौड़ते थे गिरि के उस पार
देख उड़ते-विशिखों की धार;
मरुत जब उनको द्रुत चुमकार
रोक देता था मेघासार।

अचल के जब वे विमल विचार
अवनि से उठ उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते थे सत्वर,
विहंगम सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर!

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों का भारी झर् झर्,
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर,
बिन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर,

हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर!

खैंच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारम्बार—
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल हार,
जलद-पट से दिखला मुख-चन्द्र,
पलक पल पल चपला के मार;

भग्न उर पर भूधर सा हाय!
सुमुखि, धर देती है साकार!

नौका विहार

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनन्त, नीरव भूतल !

सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म-विरल,
लेटी हैं श्रान्त, क्लान्त, निश्चल !

तापस-बाला गंगा निर्मल, शशि-मुख से दीपित मृदुकरतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल !

गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर !

साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर !

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर !

सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ी, उठा लंगर !

मृदु मन्द मन्द, मन्थर मन्थर, लघु तरणि, हंसिनी-सी सुन्दर,
तिर रही, खोल पालों के पर !

निश्चल जल के शुचि दर्पण पर बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर !

कालाकाँकर का राज-भवन सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन
पलकों पर वैभव-स्वप्न सघन !

नौका से उठतीं जल-हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर !

विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अन्तस्तल,

जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किये अविरल
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल-पल !

सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल !

लहरों के घूँघट से झुक-झुक दशमी का शशि निज तिर्यक्-मुख
दिखलाता, मुग्धा-सा रुक-रुक !

अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार !

दो बाँहों-से दूरस्थ तीर धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर !

अति दूर, क्षितिज पर विटप-माल लगती भू-रेखा-सी अराल,
अपलक-नभ नील-नयन विशाल;

मा के उर पर शिशु-सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;

वह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक !

पतवार घुमा, अब प्रतनुभार,
नौका घूमी विपरीत धार !

डाँड़ों के चल करतल पसार, भर-भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार !

चाँदनी के साँपों सी रलमल नाचतीं रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं सी खिंच तरल-सरल !
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ-सौ शशि, सौ-सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल !
अब उथला सरिता का प्रवाह, लगी से ले-ले सहज थाह;
हम बढ़े घाट को सहोत्साह !
ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार !
इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम !
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास !
हे जग-जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका विहार !
मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व दान !

चाँदनी

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनी,
मृदु करतल पर शशि-मुख धर,
नीरव, अनिमिष, एकाकिनी !

वह स्वप्न-जड़ित नत चितवन
छू लेती अग-जग का मन,
श्यामल, कोमल, चल चितवन
जो लहराती जग-जीवन !

वह फूली बेला की वन
जिसमें न नाल, दल, कुड्मल,
केवल विकास चिर निर्मल
जिसमें डूबे दश दिशि-दल !

वह सोई सरित-पुलिन पर
साँसों में स्तब्ध समीरण
केवल लघु-लघु लहरों में
मिलता मृदु-मृदु उर स्पंदन !

अपनी छाया में छिपकर
वह खड़ी शिखर पर सुन्दर,
है नाच रहीं शत-शत छबि
सागर की लहर-लहर पर !

दिन की आभा दुलहिन बन
आई निशि-निभृत शयन पर,
वह छवि की छुईमुई-सी
मृदु मधुर लाज से मर-मर !

जग के अस्फुट स्वप्नों का
वह हार गूँथती प्रतिपल,
चिर सजल-सजल करुणा से
उसके ओसों का अंचल !

वह मृदु मुकुलों के मुख में
भरती मोती के चुम्बन,
लहरों के चल करतल में
चाँदी के चंचल उडुगण !

वह लघु परिमल के घन-सी
जो लीन अनिल में अविकल,
सुख के उमड़े सागर-सी
जिसमें निमग्न उर-तट स्थल !

वह स्वप्निल शयन-मुकुल-सी
हैं मुँदे दिवस के द्युति दल,
उर में सोया जग का अलि,
नीरव जीवन-गुंजन कल !

वह नभ के स्नेह श्रवण में
दिशि की गोपन-संभाषण,
नयनों के मौन मिलन में
प्राणों की मधुर समर्पण !

वह एक बूँद संसृति की
नभ के विशाल करतल पर,
डूबे असीम सुषमा में
सब ओर छोर के अन्तर!

झङ्कार विश्व जीवन की
हौले-हौले होती लय
वह शेष भले ही अविदित,
वह शब्द-मुक्त शुचि आशय!

वह एक अनन्त प्रतीक्षा
नीरव, अनिमेष विलोचन,
अस्पृश्य, अदृश्य विभा वह,
जीवन की साश्रु-नयन क्षण!

वह शशि किरणों से उतरी
चुपके मेरे आँगन पर,
उर की आभा में खोई,
अपनी ही छवि से सुन्दर!

वह खड़ी दृगों के सम्मुख
सब रूप, रेख, रँग ओझल,
अनुभूति मात्र सी उर में
आभास शांत, शुचि, उज्ज्वल!

वह है, वह नहीं, अनिर्वच,
जग उसमें वह जग में लय
साकार चेतना सी वह,
जिसमें अचेत जीवाशय!

●

तितली

नीली, पीली औ' चटकीली,
पंखों की प्रिय पंखड़ियाँ खोल,
प्रिय तिली ! फूल-सी ही फूली
तुम किस सुख में हो रही डोल ?

चाँदी-सा फैला है प्रकाश,
चंचल अंचल-सा मलयानिल,
है दमक रही दोपहरी में
गिरि-घाटी सौ रंगों में खिल !

तुम मधु की कुसुमित अप्सरि-सी
उड़-उड़ फूलों को बरसाती,
शत इन्द्रचाप रच-रच प्रतिपल
किस मधुर गीति-लय में जाती ?

तुमने यह कुसुम-विहग लिवास
क्या अपने सुख से स्वयं बुना ?
छाया प्रकाश से या जग के
रेशमी परों का रंग चुना ?

क्या बाहर से आया, रंगिणि !
उर का यह आतप, यह हुलास ?
या फूलों से ली अनिल-कुसुम !
तुमने मन के मधु की मिठास ?

चाँदी का चमकीला आतप,
हिम-परिमल चंचल मलयानिल,
है दमक रही गिरि की घाटी
शत रत्न-छाय रंगों में खिल।

'चित्रिणि! इस सुख का स्रोत कहाँ
जो करता नित सौन्दर्य-सृजन ?'
'वह स्वर्ग छिपा उर के भीतर'—
क्या कहती यही, सुमन-चेतन ?

सुमन के प्रति

भाव, वाणी या रूप ?
तुम क्या हो चिर मूक सुमन !
किसके प्रतिरूप ?
मौन सुमन !
सुन्दरता से अनिमिष चितवन
छू कोमल मर्मस्थल
मूक सत्व के भेद सकल
कह देती, (खुल दल पर दल)—
सहज समझ लेता मन !···
विजय रूप की सदा भाव पर,
भाव रूप पर निर्भर !
मैं अवाक हूँ तुम्हें देखकर
मौन रूपधर !
रूप नहीं है नश्वर !—
सत्ता का वह पूर्ण, प्रकृत स्वर,
सुन्दर है वह,···अमर !

●

रूप सत्य

मुझे रूप ही भाता!
प्राण! रूप ही मेरे उर में
मधुर भाव बन जाता!
मुझे रूप ही भाता!

जीवन का चिर सत्य
नहीं दे सका मुझे परितोष,
मुझे ज्ञान से वस्तु सुहाती,
सूक्ष्म बोज से कोष!

सच है जीवन के वसन्त में
रहता है पतझार,
गन्ध वर्णमय कलि-कुसुमों का
पर ऐश्वर्य अपार!

राशि-राशि सौन्दर्य, प्रेम,
आनन्द गुणों का द्वार,
मुझे लुभाता रूप रंग
रेखा का यह संसार!

मुझे रूप ही भाता!
प्राण! रूप का सत्य
रूप के भीतर नहीं समाता!
मुझे रूप ही भाता!

●

सोनजुर्ह.

सोनजुही की बेल नवेली,
एक वनस्पति वर्ष, हर्ष से खेली, फूली, फैली,
सोनजुही की बेल नवेली।

आँगन के बाड़े पर चढ़ कर
दारु खंभ को गलबाँही भर,
कुहनी टेक कंगूरे पर
वह मुसकाती अलबेली!
सोनजुही की बेल छबीली।

दुबली पतली देह लतर, लोनी लम्बाई,
—प्रेम डोर सौ सहज सुहाई!
फूलों के गुच्छों से उभरे अंगों की गोलाई,

—निखरे रंगों की गोराई—
शोभा की सारी सुघराई
जाने कब भुजगी ने पाई!
सौरभ के पलने में झूली,
मौन मधुरिमा में निज भूली,
यह ममता की मधुर लता,
मन के आँगन में छाई!
सोनजुही की बेल लजीली,
पहिले अब मुसकाई!

एक टाँग पर उचक खड़ी हो
मुग्धा वय से अधिक बड़ी हो—

पैर उठा, कृश पिंडुली पर धर,
घुटना मोड़, चित्र वन सुंदर,
पल्लव देही से मृदु मांसल,
खिसका धूपछाँह का आँचल,—
पंख सीप के खोल पवन में
वन की हरी परी आँगन में
उठ अंगूठे के बल ऊपर
उड़ने को अब छूने अम्बर!
सोनजुही की बेल हठीली
लटकी सधी अधर पर!

झालरदार गरारा पहने,
स्वर्णिम कलियों के सज गहने
बूटे कढ़ी चूनरी फहरा,
शोभा की लहरी सी लहरा,—
तारों की सी छाँह साँवली,
सीधे पग धरती न बावली—
कोमलता के भार से मरी,
अंग भंगिमा भरी, छरहरी!
उद्भिद जग की सो निर्झरिणी
हरित नीर, बहती सी टहनी।
सोनजुही की बेल,
चौकड़ी भरती चंचल हिरनी।

आकांक्षा सो उर से लिपटी,
प्राणों के रज तम से चिपटी,
भू यौवन की सी अँगड़ाई,
मधु स्वप्नों की सी परछाँई,—

रीढ़ स्तंभ का ले अवलंबन
धरा चेतना करती रोहण—
आ :, विकास पथ पर भू जीवन !

सोनजुही की बेल,
गंध बन उड़ी, भरा नभ का मन !

मूल स्थूल धरती के भीतर,
खींच अचेतन का तम बाहर,
वह अपने अंतर का प्रिय धन
शांति ध्वजा सा शुभ्र मणि सुमन
कंपित मृदुल हथेली पर धर,
उठा क्षीण भुजवृंत उच्चतर,—

अर्पित करती, लो, प्रकाश को
निज अधरों के अमृत हास को,
प्राणों के स्वर्णिम हुलास को !

सोनजुही की बेल
समर्पित करती अन्तर्मुख विकास को,
उर सुवास को !

मानव मन कर रहा प्रतीक्षा
सोनजुही से ले नव दीक्षा,
उसके उर के अंध राग से,
प्राणों की हरिताभ आग से
फूटे चेतन शुभ्र, शिखा,
जो सके दिखा

मानवता का पथ ।
जीवन का रथ

—बढ़े !
प्रेम हो जग का इति अथ,
त्याग जन सारथि अभिमत !
सोनजुही दृष्टांत,—
मनुज संघर्षों से श्लथ
रीढ़ कर्दम में लथपथ !

●

महादेवी वर्मा

गीतावली

[१]

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !
जलधि-मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में,
सजल श्यामल मंथर मूक सा
तरल अश्रु-विनिर्मित गात ले,
नित घिरूँ झर झर मिटूँ प्रिय !
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !

[२]

रूपसि तेरा घन-केश-पाश !
श्यामल-श्यामल कोमल-कोमल,
लहराता सुरभित केश-पाश !
नभगंगा की रजत धार में,
धो आई क्या इन्हें रात ?
कंपित हैं तेरे सजल अंग,
सिहरा-सा तन हे सद्यस्नात !
भीगी अलकों के छोरों से
चूतीं बूँदें कर विविध लास !
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

सौरभ-भीना झीना गीला
लिपटा मृदु अंजन-सा दुकूल,
चल अंचल से झर झर झरते
पथ में जुगनू के स्वर्ण-फूल;
दीपक से देता बार बार
तेरा उज्ज्वल चितवन-विलास !
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

उच्छ्वसित वक्ष पर चंचल है
बक-पाँतों का अरविन्द-हार;
तेरी निश्वासें छू भू को
बन बन जाती मलयज बयार,
केकी-रव की नूपुर-ध्वनि सुन
जगती जगती की मूक प्यास !
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

इन स्निग्ध लटों से छा दे तन,
पुलकित अंकों में भर विशाल,
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अंकित कर इसका मृदुल भाल,
दुलरा देना बहला देना
यह तेरा शिशु जग है उदास !
रूपसि तेरा घन-केश पाश !

[३]

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त रजनी !

तारकमय नव वेणी बन्धन;
शीश फूल कर शशि का नूतन;
रश्मि-वलय सित घन-अवगुण्ठन;

मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी!
पुलकती आ वसन्त-रजनी!

मर्मर की सुमधुर नूपुर-ध्वनि;
अलि-गुञ्जित पद्मों की किंकिणि;
भर पद-गति में अलस तरंगिणि;

तरल रजत की धार बहा दे
मृदु स्मित से सजनी!
विहँसती आ वसन्त-रजनी!

पुलकित स्वप्नों की रोमावलि,
कर में हो स्मृतियों की अंजलि,
मलयानिल का चल दुकूल अलि!

घिर छाया-सी श्याम, विश्व को
आ अभिसार बनी!
सकुचती आ वसन्त-रजनी!

सिहर सिहर उठता सरिता-उर;
खुल खुल पड़ते सुमन सुधा-भर;
मचल-मचल आते पल फिर-फिर;

सुन प्रिय की पद-चाप हो गई
पुलकित यह अवनी!
सिहरती आ वसन्त-रजनी!

[४]

टूट गया वह दर्पण निर्मम !
उसमें हँस दी मेरी छाया !
मुझमें रो दी ममता माया,
अश्रु-हास ने विश्व सजाया,
रहे खेलते आँखमिचोनी
प्रिय ! जिसके परदे में 'मैं' 'तुम' !
टूट गया वह दर्पण निर्मम !

अपने दो आकार बनाने,
दोनों का अभिसार दिखाने,
भूलों का संसार बसाने,
जो झिलमिल झिलमिल सा तुमने
हँस हँस दे डाला था निरुपम !
टूट गया वह दर्पण निर्मम !

कैसा पतझर कैसा सावन,
कैसी मिलन विरह की उलझन,
कैसा पल घड़ियोंमय जीवन,
कैसे निशि-दिन कैसी सुख-दुख
आज विश्व में तुम हो या तम !
टूट गया वह दर्पण निर्मम !

किसमें देख सँवारूँ कुन्तल,
अंग राग पुलकों का मल मल,
स्वप्नों से आँजूँ पलकें चल,
किस पर रीझूँ किस पर रूठूँ,
भर लूँ किस छवि से अन्तरतम !
टूट गया वह दर्पण निर्मम !

आज कहाँ मेरा अपनापन,
तेरे छिपने का अवगुण्ठन,
मेरा बन्धन तेरा साधन,
तुम मुझ में अपना सुख देखो
मैं तुम में अपना दुख प्रियतम !
टूट गया वह दर्पण निर्मम !

[५]

फिर विकल हैं प्राण मेरे !
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस पार क्या है ?
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्वास घेरे ?

सिंधु की निःसीमता पर लघु लहर का लास कैसा !
दीप लघु शिर पर धरे आलोक का आकाश कैसा !
दे रही मेरी चिरन्तनता
क्षणों के साथ फेरे !

बिम्बग्राहकता वर्णों को शलभ को चिर साधना दी,
पुलक से नभ भर धरा को कल्पनामय वेदना दी,
मत कहो हे विश्व ! 'झूठे
हैं अतुल वरदान तेरे' !

नभ डुबा पाया न अपनी बाढ़ में भी क्षुद्र तारे,
ढूँढ़ने करुणा मृदुल घन चीर कर तूफान हारे,
अन्त के तम में बुझे क्यों
आदि के अरमान मेरे !

[६]

चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना !
जाग तुझको दूर जाना !

अचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कम्प हो ले,
या प्रलय के आँसुओं में मौन अलसित व्योम रो ले,
आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया,
जाग या विद्युत्-शिखाओं में निठुर तूफान बोले !
पर तुझे है नाश-पथ पर चिह्न अपने छोड़ आना !

बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बन्धन सजीले ?
पंथ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रँगीले ?
विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन,
क्या डुबा देंगे तुझे यह फूल के दल ओस-गीले ?
तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना !

वज्र का उर एक छोटे अश्रु-कण में धो गलाया,
दे किसे जीवन-सुधा दो घूँट मदिरा माँग लाया ?
सो गई आँधी मलय की वात का उपधान ले क्या ?
विश्व का अभिशाप क्या चिर नींद बनकर पास आया ?
अमरता-सुत चाहता क्यों मृत्यु को उर में बसाना ?

कह न ठंढी साँस में अब भूल वह जलती कहानी,
आग हो उर में तभी दृग में सजेगा आज पानी,
हार भी तेरी बनेगी मानिनी जय की पताका,
राख क्षणिक पतंग की है अमर दीपक की निशानी !
है तुझे अंगार-शय्या पर मृदुल कलियाँ बिछाना !

[७]

सब आँखों के आँसू उजले सबके सपनों में सत्य पला !

जिसने उसको ज्वाला सौंपी
उसने इसमें मकरन्द भरा
आलोक लुटाता वह घुल-घुल
देता झर यह सौरभ बिखरा !
दोनों संगी पथ एक किन्तु कब दीप खिला कब फूल जला ?

वह अचल धरा को भेंट रहा
शत-शत निर्झर में हो चंचल,
चिर परिधि बना भू को घेरे
इसका नित उर्म्मिल करुणा-जल !
कब सागर उर पाषाण हुआ, कब गिरि ने निर्मम तन बदला ?

नभ-तारक-सा खंडित पुलकित
यह सुर-धारा को चूम रहा,
वह अंगारों का मधु-रस पी
केशर-किरणों-सा झूम रहा !
अनमोल बना रहने को कब टूटा कंचन हीरक पिघला !

नीलम मरकत के सम्पुट दो
जिनमें बनता जीवन-मोती,
इसमें ढलते सब रंग-रूप
उसकी आभा स्पन्दन होती !
जो नभ में विद्युत् मेघ बना वह रज में अंकुर हो निकला !

संसृति के प्रति पग में मेरी
सांसों का नव अंकन चुन लो,
मेरे बनने-मिटने में नित
अपनी साधों के क्षण गिन लो !
जलते खिलते बढ़ते जग में घुलमिल एकाकी प्राण चला !
सपने-सपने में सत्य ढला !

[८]

प्राणों ने कहा कब दूर,
पग ने कब गिने थे शूल ?
मुझको ले चला जब भ्रान्त
वह निश्वास ही का ज्वार,
मैंने हँस प्रलय से बाँध
तरिणी छोड़ दी मँझधार !
तुमसे पर न पूछा लौट,
अब होगा मिलन किस कूल ?

शतधा उफन पारावार,
लेता जब दिशाएँ लील,
लाता खींच झंझावात,
तम के शैल कज्जल-नील,
तब संकेत अक्षरहीन
पढ़ने में हुई कब भूल ?
मेरे सार्थवाही स्वप्न
अंचल में व्यथा भरपूर,
आँखें मोतियों का देश
साँसे बिजलियों का चूर !

तुमसे ज्वाल में हो एक
मैंने भेंट ली यह धूल!

मेरे हर लहर में अंक,
हर कण में पुलक के याम,
पल जो भेजते हो रिक्त
मधुर भर बाँटती अविराम!
मेरी पर रही कब साध
जग होता तनिक अनुकूल?

भृ की रागिनी में गूँज,
गर्जन में गगन को नाप,
क्षण में वार क्षण में पार
जाती जब चरण की चाप,
देती अश्रु का मैं अर्घ्य
धर चिनगारियों के फूल!

पहला दौंगरा

गगन में मेघ घिर आये।

तुम्हारी याद
स्मृति के पींजड़े में बाँध कर मैंने नहीं रखी;
तुम्हारे स्नेह को भरना
पुरानी कुप्पियों में स्वत्व की
मैंने नहीं चाहा।

गगन में मेघ घिरते हैं
तुम्हारी याद घिरती है।
उमड़ कर विवश बूँदें बरसती हैं—
तुम्हारी सुधि बरसती है।
न जाने अन्तरात्मा में मुझे यह कौन कहता है
तुम्हें भी यही प्रिय होता।
क्योंकि तुमने भी निकट से दुःख जाना था।

दुःख सब को माँजता है
और—
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु—
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रखें।

मगर जो हो
अभी तो मेघ घिर आये

पड़ा यह दौंगरा पहला
धरा ललकी, उठी, हवा में
बास सोंधी
मुग्ध मिट्टी की।

भिगो दो, आह !
ओ रे मेघ, क्या तुम जानते हो
तुम्हारे साथ कितने हियों में कितनी असीसें
उमड़ आयी हैं ?

●

उषःकाल की भव्य शान्ति

निविडान्धकार
को मूर्त रूप दे देनेवाली
एक अकिंचन, निष्प्रभ अनाहूत
अज्ञात द्युति-किरण—
आसन्न-पतन, बिन-जमी ओस की अन्तिम
ईषत्करुण, स्निग्ध, कातर शीतलता
अस्पृष्ट किन्तु अनुभूत—
दूर किसी मीनार-क्रोड़ मुल्ला का
एक-रूप पर अनेक भावोद्दीपक
गंभीर आह्वान—
'अस्सला तु खैरुम्पिनिम्नाऽ'—
निकट गली में
किसी निष्करुण जन से बिन-कारण पदाक्रान्त
पिल्ले की करुण रिरियाहट—
पार गली के छप्परतल में
शिशु का तुनक-तुनककर रोना, मातृवक्ष को आतुर
ऊपर
व्याप्त ओर-छोरमुक्त नीलाकाश—
दो अनथक, अपलक-द्युति ग्रह
रात-रात में नभ का आधा व्यास पार कर
फिर भी नियति बद्ध अग्रसर।
उषःकाल

अनायास उठ गया चेतना से निद्रा का आंचल—
मिला न पर पार्थक्य, पड़ा मैं स्तब्ध, अचंचल
मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता—
मैं ही वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला—
मैं वह छप्पर-तल का अहंलीन शिशु-भिक्षुक—
और, हाँ, निश्चय,
मैं वह तारक-युग्म,
अपलक-द्युति, अनथक-गति, बद्ध-नियति
जो पार किये जा रहा नील-मरु-प्रांगण नभ का।
मैं हूँ ये सब, ये सब मुझमें जीवित—
मेरे कारण अवगत-मेरे नेत्र में अस्तित्व-प्राप्त!
उषःकाल
उषःकाल की रहस्यमय
भव्य शान्ति!

●

यह दीप अकेला

यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति को दे दो।

यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा।

यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा,
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति को दे दो।

यह मधु है : स्वयं काल की मौना का युग-संचय,
यह गोरस : जीवन-कामधेनु का अमृत पूत पय,
यह अंकुर : फोड़ धरा को रवि को तकता निर्भय,

यह प्रकृत, स्वयम्भू, ब्रह्म, अयुत :
इस को भी शक्ति को दे दो।

यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति को दे दो।

यह वह विश्वास, नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा,
वह पीड़ा, जिस की गहराई को स्वयं उसी ने नापा,

कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुंधुआते कड़ुवे तम में
यह सदा-द्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर-अखंड अपनाया।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इस को भी भक्ति को दे दो :

यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति को दे दो।

कतकी पूनो

छिटक रही है चाँदनी,
मदमाती, उन्मादिनी,
कलगी-मौर-सजाव ले
कास हुए हैं बावले,
पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी बनी फलाँगती—
सन्नाटे में बाँक नदी की जगी चमक कर झाँकती !
कुहरा झीना और महीन,
झर-झर पड़े अकासनीम,
उजली-लालिम मालती
गन्ध के डोरे डालती,
मन में दुबकी है हुलास ज्यों परछाईं हो चोर की—
तेरी बाट अगोरते ये आँखें हुईं चकोर की।

●

नदी के द्वीप

[१]

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हम को छोड़ कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं
माँ है वह। है, इसी से हम बने हैं।

[२]

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।

[३]

द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में।
वह वृहद् भूखंड से हमको मिलाती है।
और वह भूखंड
अपना पितर है।

[४]

नदी, तुम बहती चलो।
भूखंड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है,
माँजती, संस्कार देती चलो:
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—
अतिचार से—
तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे—
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्त्तिनाशा घोर
काल-प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना।

●

चेहरे असंख्य : आँखें असंख्य

चेहरे थे असंख्य,
आँखें थीं,
दर्द सभी में था—
जीवन का दंश सभी ने जाना था।
पर दो
केवल दो
मेरे मन में कौंध गयीं।

क्यों ?
क्या उन में अतिरिक्त दर्द था
जो अतीत में मेरा परिचित कभी रहा,
या मुझमें कोई छाया स्मृति जागी थी
जिसको मैंने उन आँखों में पढ़ा
कि जैसे सदा दूसरों में हम
जाने-अनजाने केवल
अपने ही को पढ़ते हैं ?
मैं नहीं जानता किसकी वे आँखें थीं,
नहीं समझता फिर उनको देखूँगा
(परिचय मन ही मन चाहा हो, उद्यम कोई नहीं किया),
किन्तु उसी की कौंध

मुझे फिर-फिर दिखलाती है
चेहरे असंख्य,
आँखें असंख्य,
जिन सब में दर्द भरा है
पर जिनको मैं पहले नहीं देख पाया था।
वही अपरिचित दो आँखें ही
चिर-माध्यम हैं
सब आँखों से, सब दर्दों से
मेरे चिर-परिचय का।

मैंने देखा, एक बूँद

मैंने देखा
एक बूँद सहसा
उछली सागर के झाग से :
रँगी गयी क्षण भर
ढलते सूरज की आग से।
मुझको दीख गया :
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से।